प्रथम संस्करण, १९४४
द्वितीय सस्करण, १९४८

मुद्रक—जे० के० शर्मा, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद
प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद

प्राक्कथन

"बौद्ध दर्शन" मेरे ग्रंथ "दर्शन-दिग्दर्शन"का एक भाग है। तीसरे अध्यायको और विस्तृत रूपमें लिखनेकी आवश्यकता थी, मगर इस संस्करण-में वैसा करनेके लिए मेरे पास समय नहीं था, दूसरे संस्करणमें आशा है, मैं इस कमीको पूरा कर दूँगा। किन्तु, बुद्ध और धर्मकीर्तिके दर्शनको मैंने जितना विस्तारपूर्वक दिया है, उससे बौद्ध दर्शन क्या है, इसे समझनेमें पाठकोंको कोई दिक्कत न होगी। और विकासोंकी भाँति दर्शनके विकासको भी अलग-अलग रखकर अच्छी तरह नहीं समझा जा सकता, इसलिए बौद्ध दर्शनके विकासको जानने, तथा विश्व-दर्शनमें उसके महत्त्वको समझनेके लिए पौरस्त्य और पाश्चात्य सभी प्राचीन-अर्वाचीन दर्शनोंका जानना जरूरी है; जिसके लिए "दर्शन-दिग्दर्शन"को पढ़नेकी जरूरत होगी।

प्रयाग
८–१२–१९४३

राहुल सांकृत्यायन

पुनश्च—द्वितीय छापमें मैं १९३२ में लिखे अपने एक लेखको प्रथम अध्यायके तौर पर दे सका, और और कुछ जोड़नेके लिए समय नहीं निकाल सका।

प्रयाग
२–१–४८

राहुल सांकृत्यायन

विषय-सूची

बौद्ध दर्शन

प्रथम अध्याय

गौतम बुद्धके मूल सिद्धान्त

बुद्धके उपदेशोके समझनेमे सहायता मिलेगी, यदि पाठक बुद्धके इन मूल चार सिद्धान्तो—तीन अस्वीकारात्मक और एक स्वीकारात्मक—को पहले जान लें। वे चार सिद्धान्त ये हैं—

(१) ईश्वरको नही मानना, अन्यथा 'मनुष्य स्वयं अपना मालिक है'—इस सिद्धान्तका विरोध होगा।

(२) आत्माको नित्य नही मानना, अन्यथा नित्य एक रस माननेपर उसकी परिशुद्धि और मुक्तिके लिए गुजाइश नही रहेगी।

(३) किसी ग्रन्थको स्वत. प्रमाण नही मानना; अन्यथा बुद्धि और अनुभवकी प्रामाणिकता जाती रहेगी।

(४) जीवन-प्रवाहको इसी शरीर तक परिमित न मानना; अन्यथा जीवन और उसकी विचित्रतायें कार्यकारण नियमसे उत्पन्न न होकर, सिर्फ आकस्मिक घटनायें रह जायँगी।

बौद्ध धर्ममे चार बाते सर्वमान्य है। इन चार बातोपर हम यहाँ अलग विचार करते हैं।

(१) ईश्वरको न मानना

ईश्वरवादी कहते हैं—"चूंकि हर एक कार्यका कारण होता है, इसलिए ससारका भी कोई कारण होना चाहिए, और वह कारण

ईश्वर है—लेकिन प्रश्न किया जा सकता है—ईश्वर किस प्रकारका है ? क्या उपादान-कारण, जैसे घडेका कारण मिट्टी, कुण्डलका सुवर्ण ? यदि ईश्वर जगत्‌का उपादान-कारण है, तो जगत् ईश्वरका रूपान्तर है। फिर ससारमे जो भी बुराई-भलाई, सुख-दु ख, दया-क्रूरता देखी जाती है, वह सभी ईश्वरसे और ईश्वरमें है। फिर तो ईश्वर सुखमयकी अपेक्षा दु खमय अधिक है, क्योकि दुनियामे दु खका पलडा भारी है। ईश्वर दयालुकी अपेक्षा क्रूर अधिक है, क्योंकि दुनियामें चारो तरफ क्रूरताका राज्य है। यदि वनस्पतिको जीवधारी न भी माना जाय, तो भी सूक्ष्म वीक्षणसे द्रष्टव्य कीटाणुओंसे लेकर कीडे-मकोडे, पक्षी, मछली, साँप, छिपकली, गीदड, भेड़िया, सिह-व्याघ्र, सभ्य-असभ्य मनुष्य—सभी एक दूसरेके जीवनके ग्राहक है। ध्यानसे देखनेपर दृश्य-अदृश्य, सारा ही जगत् एक रोमांचकारी युद्धक्षेत्र है, जिसमे निर्बल प्राणी सबलोंके ग्रास बन रहे है। पुनर्जन्म न माननेवाले धर्मोको तो इसे विना आनाकानी-के स्वीकार करना पड़ेगा। पुनर्जन्मवादी कह सकते है कि सभी मुसीबतें पूर्वके कर्मोंके फल है, लेकिन यह भी चिन्त्य है। अच्छे-बुरे कर्मोकी जबाब-देही जानकारको ही हो सकती है। पागल या नशेमे बेहोश या अबोध बालकको दूसरेकी हत्याका दोषी नही ठहराया जा सकता। इससे इनकार किसको हो सकता है कि मनुष्यके अतिरिक्त दूसरे प्राणी—जो अपने अच्छे-बुरे कर्मोके जाननेकी समझ नही रखते, और जिनका जीवन दूसरो-की हत्यापर ही निर्भर है—अपने कर्मोंके जिम्मेवार नही हो सकते ? मनुष्योमे भी बालक, पागल आदि अलग कर देनेपर दायित्व रखनेवालो की सख्या बहुत कम रह जायगी। यदि दुनियामें जबाबदेह आदमियोंकी संख्या डेढ़ अरब मान ली जाय, तो फल भोगनेवाले इतने कहाँसे आयेंगे, जिनकी सख्या अपार है। डेढ अरबसे अधिक तो कछुये ही होगे, जो आदमीसे अधिक दीर्घजीवी है, और कीटाणुओ तथा हाथी, ह्वेल आदि जैसे विशाल-काय जन्तुओंके बारेमे कहना ही क्या ?

उपादान-कारण है, तो निर्विकार कैसे हो सकता है ? यदि ईश्वरको

निमित्त-कारण माना जाय, अर्थात् वह जगत्को वैसे ही बनाता है, जैसे कुम्हार घडेको, सुनार कुण्डलको, तो प्रश्न होगा, क्या वह बिना किसी उपादान-कारणके जगत्को बनाता है, या उपादान-कारणसे ? यदि बिना उपादान-कारणके, तो अभावसे भावकी उत्पत्ति माननी होगी, और कार्य-कारणका सिद्धान्त ही गिर जायगा, तब फिर जगत्को देखकर उसके कारण ईश्वरके माननेकी जरूरत क्या ? यदि इन्द्रजालकी तरह उसने जगत्को बिना कारण मायामय उत्पन्न किया है तो प्रत्यक्षके माया-मय होनेपर ईश्वरके होनेका अनुमान ही किस सामग्रीके बलपर होगा ? यदि उपादान-कारणसे बनाता है, तो कुम्हारकी भाँति अलग रहकर बनाता है, या उसमे व्याप्त होकर ? अलग रहनेपर वह सर्वव्यापक नही रहेगा, और सृष्टि करनेके लिए उसे दूसरे सहायको और साधनोपर निर्भर होना पडेगा। विद्युत्कणोसे भी सूक्ष्म नवकणो (Neutrons) तक पहुँचने और उनके मिश्रणसे क्रमश स्थूलतर चीजोके बनानेके लिए वह कौनसा हथियार, सुनारकी सँडासीकी तरह, प्रयोग करेगा ? और फिर सर्वशक्तिमान कैसे रहेगा ? यदि उसे उपादान-कारणमे सर्वव्यापक मान लिया जाय, तो भी उपादान-कारणके बिना उत्पादन करनेमे अक्षम होनेपर सर्वशक्तिमान् नहीं। ऐसी अवस्थामे अपवित्रता, क्रूरता आदि बुराइयोका स्रोत होनेका भी वह दोषी होगा।

इस प्रकार न वह उपादान-कारण हो सकता है, न निमित्त-कारण। जगत्का कोई आदि कारण होना ही चाहिए, यह कोई जरूरी नहीं। यदि 'उसका कारण कौन, उसका कारण कौन ?'—पूछनेपर जगत्को किसी सूक्ष्मतम वस्तु या उसकी विशेष शक्तिपर नही रुकने दिया जाय, तो ईश्वरतक ही क्यो रुका जाय ? क्यो न ईश्वरका भी कोई दूसरा कारण माना जाय ? इस प्रकार ईश्वरका आदि कारण मानना युक्ति-युक्त नहीं।

कर्ता-धर्ता ईश्वर होनेपर, मनुष्य उसके हाथकी कठपुतली है, फिर वह किसी अच्छे-बुरे कामकेलिए जवाबदेह नही हो सकता। फिर दुनियामे उसका सताया जाना क्या ईश्वरकी दयालुताका द्योतक है ?

ईश्वर सृष्टिकर्ता है, यह मानना भी ठीक नही। यदि सृष्टि अनादि है, तो उसको किसी कर्ताकी जरूरत नही, क्योंकि कर्ता होनेके लिए उसे कार्यसे पहले उपस्थित रहना चाहिए। यदि सृष्टि आदि है, तो करोड़ दो करोड, खरब दो खरब वर्ष नही, अचिन्त्य अनन्त वर्षोंसे लेकर सृष्टि उत्पन्न होनेके समय तक उस क्रिया-रहित ईश्वरके होनेका प्रमाण क्या? क्रिया ही तो उसके अस्तित्त्वमे प्रमाण हो सकती है?

ईश्वरके माननेपर, जैसा कि पहले कहा गया, मनुष्यको उसके अधीन मानना पड़ेगा, तब मनुष्य आप ही अपना स्वामी है, जैसा चाहे, अपनेको बना सकता है—यह नही माना जा सकता। फिर मनुष्यको शुद्धि और मुक्तिके लिए प्रयत्न करनेकी गुंजाइश कहाँ? फिर तो धर्मोके बताये रास्ते, और धर्म भी निष्फल। ईश्वरके न माननेपर, मनुष्य जो कुछ वर्तमानमे है, वह अपने ही कियेसे, और जो भविष्यमे होगा, वह भी अपनी ही करनीसे। मनुष्यके काम करनेकी स्वतन्त्रता होने ही पर धर्मके बताये रास्तो और धर्मकी सार्थकता हो सकती है। ईश्वरवादियो द्वारा सहस्राब्दियोंसे धर्मके लिए अशान्ति और खूनकी धाराएँ बहाई जा रही है, फिर भी ईश्वर क्यो नही निपटारा करता? वस्तुतः ईश्वर मनुष्यकी मानसिक सृष्टि है।

(२) आत्माको नित्य न मानना

यहाँ पहले हमे यह समझ लेना है कि बौद्ध अनात्माको कैसे मानते है। बुद्धके समय ब्राह्मण, परिव्राजक तथा दूसरे मतोके आचार्य मानते थे कि शरीरके भीतर और शरीरसे भिन्न एक नित्य चेतनशक्ति है, जिसके आनेसे शरीरमें उष्णता और ज्ञानपूर्वक चेष्टा देखनेमे आती है। जब वह शरीर छोडकर कर्मानुसार शरीरान्तरमे चली जाती है, तो शरीर शीतल, चेष्टारहित हो जाता है। इसी नित्य चेतनशक्तिको वे आत्मा कहते थे। सामीप (Semitic) धर्मोका भी पुनर्जन्मको छोडकर, वही मत है। इनके अलावा बुद्धके समयमे दूसरे भी आचार्य थे, जिनका

कहना था—शरीरसे पृथक् आत्मा कोई चीज़ नहीं, शरीरमे भिन्न-भिन्न परिमाणमे मिश्रित रसोके कारण उष्णता और चेष्टा पैदा हो जाती है, रसोके परिमाणमे कमी-बेशी होनेसे वह चली जाती है। इस प्रकार आत्मा शरीरसे भिन्न कोई वस्तु नही है। बुद्धने एक ओर आत्माका नित्य कूटस्थ मानना, दूसरी ओर शरीरके साथ ही आत्माका विनाश हो जाना—इन दोनो चरम बातोको छोड मध्यका रास्ता लिया। उन्होने कहा—आत्मा कोई नित्य कूटस्थ वस्तु नही है, बल्कि खास कारणोसे स्कन्धो (भूत, मन)के ही योगसे उत्पन्न एक शक्ति है, जो अन्य बाह्य भूतोकी भाँति क्षण-क्षण उत्पन्न और विलीन हो रही है। चित्तके क्षण-क्षण उत्पन्न होने और विलीन होने पर भी चित्तका प्रवाह जब तक इस शरीरमे जारी रहता है, तब तक शरीर सजीव कहा जाता है। हमारे अध्यात्म-परिवर्तन और शरीरके परिवर्तनमे बहुत समानता है।

हमारा शरीर क्षण-क्षण बदल रहा है। चालीस वर्पका यह शरीर वही नही है, जो पाँच वर्प और बीस वर्पकी अवस्थामे था, और न साठवे वर्पमे वही रह जायगा। एक-एक अणु, जिससे हमारा शरीर बना है, प्रति क्षण अपना स्थान नवोत्पन्नके लिए खाली कर रहा है, ऐसा होनेपर भी हर एक विगत शरीर-निर्मापक परमाणुका उत्तराधिकारी बहुत-सी बातोमे सदृश होता है। इस प्रकार यद्यपि हमारा पहले वर्पवाला शरीर दसवे वर्पमें नही रहता, और बीसवे वर्पमे दस वर्पवाला भी खतम हुआ रहता है, तो भी सदृश परिवर्तनके कारण मोटे तौरपर हम शरीरको एक कहते है। इसी प्रकार आत्मा भी क्षण-क्षण बदल रहा है, लेकिन सदृश परिवर्तनके कारण उसे एक कहा जाता है। आप अपने ही जीवनको ले लीजिए। दो वर्प पूर्व दूरसे भी आपको सिगरेटका धुआँ नागवार था, और अब उसे चावसे पीते है। दो वर्प पूर्व चिडियोको स्वय मारकर फड़फडाते देखना, आपके लिए मनोरजनकी चीज थी, लेकिन अब आप दूसरे द्वारा मारी जाती चिड़ियाको फड़फडाते देख स्वय फडफडाने लगते हैं। यदि आपको अपने मनके झुकाव और उसकी प्रवृत्तियोको लिखने

रहनेका अभ्यास है, तो आप अपनी पिछली दस वर्षोंकी डायरी उठाकर पढ डालिये वहाँ आपको कितने ही विचार ऐसे मिलेंगे, जिन्हे दस वर्ष पूर्व आप अपना कहते थे, किन्तु दस वर्ष वाद आज यदि कोई आपके ही शब्दोमे आपके पूर्व विचारोंको आपके सामने रखे, तो आप साफ इनकार कर देंगे कि 'यह मेरा विचार नहीं है, न मेरा विचार कभी ऐसा था।' वस्तुत आपका ऐसा कहना ठीक भी है, क्योंकि आपके पिछले दस वर्षके अनुभवो ने आपको वदल दिया है।

आप कह सकते है—मन वदलता है, आत्मा थोड़े ही वदलता है। हमारा कहना है, मनसे परे आत्मा कोई चीज नही। चित्त, विज्ञान, आत्मा—एक ही चीज हैं। जिस प्रकार चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और त्वक् इन्द्रियोको हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, वैसे मनको नहीं। हमें मनकी सत्ता क्यो स्वीकार करनी पडती है ? आँखे इमली देखती हैं, और जिह्वासे पानी टपकने लगता है। नाक दुर्गन्ध सूँघती है, और हाथ नाकपर पहुँच जाता है। आप देखते हैं, आँख और जिह्वा एक नही है, न वे एक दूसरेसे मिली हुई है। इसलिए इन दोनोको मिलानेके लिए एक तीसरी इन्द्रिय चाहिए, और वह मन है। पाँचो ही इन्द्रियाँ अपने-अपने ज्ञानको जहाँ पहुँचाती है, और जहाँसे शरीरके भिन्न-भिन्न अगोंको गतिका अनुशासन मिलता है, वह मन है। वही ग्रहण, चिन्तन और निर्णय करता है। वह ग्रहण आदि कैसे करता है ? फौजके कमाण्डरकी तरह अलग वैठकर नहीं, वल्कि जैसे पाँच ट्यूवोंमें लाल, पीले, हरे, नीले, काले रगका चूर्ण पड़ा हुआ हो, और नीचे एक ऐसी काँचकी नलीसे पानी वह रहा हो, जिसमे पाँचों ट्यूवोंके मुँह मिले हुए हो, और ट्यूवोंका मुँह वारी-वारीसे खुल रहा हो। जिस समय जो रग पानीपर पडेगा, पानी उसी रगका हो जायगा। इसी तरह जव आँख काले साँपकी ओर लगती है, तो काले साँपका हमें दर्शन होता है। फिर यह ज्ञान तुरन्त मनमें पहुँचता है। उस क्षणका मन, जो अपने कारण भूत पुराने मनोंके अनुभवोंका वीज अपनेमे रखता है, इस नये ज्ञानरूपी चूर्णके गिरनेसे तदाकार

हो, भयके रगमें रँग जाता है। यदि एक क्षण ही साँपको देख हमे रुक जाना हो, तो भी हिलाकर छोड़ दिये पहियेकी भाँति कई क्षण तक एक-एकके बाद उत्पन्न होनेवाला मन उस रगमे रँग जायगा; यद्यपि हर द्वितीय क्षणके मनपर उसका असर फीका पडता जायगा। और यदि साँप कई क्षणो तक दिखाई देता रहा, और आपकी तरफ भी आता रहा, तो क्षण-क्षणपर उत्पन्न होनेवाले मनपर भयका सचार अधिक होता जायगा। जो बात भयप्रद विषयोंके बारेमे है, वही प्रीतिप्रद तथा दूसरे विषयोंके बारेमें भी समझनी चाहिए।

अस्तु, उक्त कारणसे चक्षु आदि इन्द्रियोके अतिरिक्त हमे उनके सयोजक एक भीतरी इन्द्रियको माननेकी जरूरत पडती है, जिसे मन कहते है। इससे परे आत्माकी क्या आवश्यकता ? यदि कहे कि पुराने अनुभवोको स्मृतिके रूपमे रखनेके लिए, क्योकि मन तो क्षणिक है (यद्यपि यह बात वे नही कह सकते, जिनके मतसे मन क्षणिक नही), तो हम कहेगे—मन क्षणिक है, किन्तु वह अपने परवर्ती मनका कारण भी है। आनुवशिक नियमके अनुसार जैसे माता-पिताकी बहुत-सी बाते पुत्र-पौत्रमे आती है, उसी प्रकार पूर्व मन अपने अनुभवोका बीज या सस्कार पिछले मनके लिए बरासतमे छोड जाता है, और वही स्मृतिका कारण है। वस्तुत सस्कारका ठप्पा तो क्षणिक वस्तुपर ही लग सकता। आत्मा-को यदि कूटस्थ नित्य माने, तो वह अनन्त काल तक एक रस रहनेवाली होगी। भला, सदाके लिए एक रस रहनेवाले आत्मापर अनुभवोका ठप्पा कैसे पड सकता है ? यदि पड सकता है, तो ठप्पा पडते ही उसका रूप-परिवर्तन हो जायगा। आत्मा कोई जड पदार्थ नही है, जिसके सिर्फ बाह्य अवयवपर ही लाछन लगेगा। वह तो चेतनमय है, इसलिए ऐसी अवस्थामे इन्द्रिय-जनित ज्ञान उसमें सर्वत्र प्रविष्ट हो जायगा। फिर वह राग, द्वेष, मोह—नाना प्रकारोमेसे किसी एक रूपवाला हो जायगा। तब फिर वह वही आत्मा नही हो सकता, जो ठप्पा लगनेसे पहले था। अतएव वह एक रस भी नही हो सकता। फिर आत्मा नित्य है कैसे ?

यदि थोड़ी देरके लिए मान भी लें कि ठप्पा लगता है, तो वह अभौतिक संस्कार भी नित्य आत्मामें लगकर अविचल हो जायगा। तब फिर शुद्धि या मुक्तिकी आशा कैसे की जा सकती है?

यदि कहें—कोई नित्य आत्मा नहीं है, तो मनके क्षणिक होनेसे, शरीरके नष्ट हो जानेपर अच्छे-बुरे कर्मोंका विपाक कैसे होगा? यहाँ पहले यह समझ ले कि बौद्ध विपाक कैसे मानते हैं। वे यह नहीं मानते कि हम जो कुछ भले-बुरे काम करते हैं, उसे लिखनेके लिए ईश्वरने हमारे पीछे दूत लेखक लगा रक्खे हैं। हम अच्छे या बुरे जैसे भी कायिक-वाचिक कर्म करते हैं, सभी कर्मोंका उद्गम हमारा मन है। अतः द्वेषयुक्त काम करनेके लिए मनको द्वेषयुक्त बनना पड़ता है; रागयुक्त काम करनेके लिए मनको रागयुक्त बनना पड़ता है। मनकी उस बनावटकी, उस ध्वनिकी गूँज तब तक जारी रहती है, जब तक वह व्ययसे या विरोधी ध्वनिसे आकर टकरानेसे नष्ट नहीं हो जाती। आदमी एक दिनमें क्रूर नहीं बन जाता। आपरेशन करनेवाले डाक्टरको भी धीरे-धीरे अपने मनको कड़ा करना पड़ता है, फिर खूनीकी तो बात ही क्या? जब किसी असहाय, निरपराध बालिकाको पीटते देख दर्शकोंका मन प्रभावित हुए बिना नहीं रहता (यद्यपि वह दूसरी दिशामें—करुणाकी ओर), तो स्वयं मारनेवालेका मन सख्त हुए बिना कैसे रह सकता है? सुतराम् हम जो काम करते हैं, उसका असर तत्काल मनपर पड़ता है। जितना ही मन कड़ा होता जाता है—उतना ही उसमें सूक्ष्म मानसिक चिन्तन और विकासकी योग्यता कम होती जाती है।

अच्छे-बुरे मनोभाव धन और ऋणकी तरह हैं। यदि धनकी राशि अधिक रही, ऋणकी कम, तो धनका पलड़ा भारी रहेगा। यह हिसाब मनकी क्षण-क्षणकी बनावटमें स्वयं होता रहता है। यहाँ हिसाबका टोटल महीनों, हफ्तों, दिनोंके बाद नहीं, बल्कि तुरन्त-का-तुरन्त होता रहता है। मनुष्य क्या है, अपने पिछले भले-बुरे अनुभवोंका पूर्ण योग। दूसरे क्षण उत्पन्न होनेवाले मनको बहुतसी बातें अपने-जनक मनसे बरासतमें

मिलती है। यह वरासतका सिलसिला हमारे लड़कपनसे वृद्धपन तक रहता है—इसे समझनेमें अड़चन नहीं होगी। लेकिन बुद्धकी शिक्षाके अनुसार यह सिलसिला जन्मसे पहले भी था, और मृत्युके बाद भी रहेगा। अपने पिछले अनुभवोंसे बने हुए मनकी उपमा, मृत्यु-क्षणमें जिस वक्त वह इस शरीरको छोड़नेके लिए तैयार रहता है, उस तप्त लौह-धारसे दी जा सकती है, जो एक ऐसी नालीके सहारे नीचे बहती चली आई हो, जो एक टीलेके पास आकर रुक जाती हो। उस टीलेके दूसरी ओर एक ऐसी दूसरी नाली है, जिसके आरम्भपर पर्याप्त चुम्बक-राशि है, तो वह जरूर इस धारको नालीमें डालनेके लिए समर्थ होगी। इसी प्रकार मृत्युके समय चित्त-प्रवाह अपनी संस्कार-राशिके साथ इस जीवनके छोरपर खड़ी रहती है। वह संस्कार-राशिरूपी चुम्बक समान धर्मवाले समीपतम शरीरमें खींचकर फिर उसकी वही पुरानी कार्रवाई शुरू करा देता है। यह क्रम तब तक जारी रहता है, जब तक तृष्णाके क्षयमें यह सन्तति विशृंखलित हो, निर्वाणको नहीं प्राप्त हो जाती। इस प्रकार कर्म, कर्म-फल और जन्मान्तर होता है।

जीवको नित्य माननेमें बहुतसे दोष होते हैं। यदि आप उसे नित्य मानते हैं, तो उसे सिर्फ अमर ही नहीं, अजन्मा भी मानना होगा। फिर सामीप धर्मोंमें भी तो, जहाँ पुनर्जन्म नहीं मानते, यह मानना होगा कि जीव अरब-खरब वर्ष नहीं बल्कि अनादि कालसे आज तक चुपचाप निश्चेष्ट पड़ा रहा। अब एक, पचास, या सौ वर्ष तकके लिए, बिना किसी पूर्व कर्मके, इस दुनियामें जन्मान्ध या नेत्रवान्, जन्मरोगी या स्वस्थ, मन्दबुद्धि या प्रतिभाशाली बन कर उत्पन्न हो गया है, और मरनेके बाद फिर अनन्तकाल तकके लिए अपने कुछ वर्षोंके बुरे-भले कर्मोंके कारण स्वर्ग या नरकमें डाल दिया जायगा। क्या इस तरहकी नित्यता बुद्धि-युक्त मानी जा सकती है? जो लोग पुनर्जन्म भी मानते हैं, और साथ-साथ आत्माको नित्य भी, उनकी ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। जब वह नित्य है, तो कूटस्थ भी है, अर्थात् सदा एक-रस रहेगा, फिर ऐसी

एक-रस वस्तुको यदि परिशुद्ध मानते है, तो वह जन्म-मरणके फेरमे कैसे पड सकती है ? यदि अशुद्ध है, तो स्वभावत. अशुद्ध होनेसे उसकी मुक्ति कैसे हो सकती है ? नित्य कूटस्थ होनेपर सस्कारकी छाप उसपर नही पड़ सकती, यह हम पहले कह चुके है । यदि छापके लिए मनको मानते है, तो आत्माको माननेकी जरूरत ही क्या रह जाती है ?

प्रश्न हो सकता है कि यदि मन तथा आत्मा एक है, और वह क्षणिक है, तो अनेकतामे—'मै पहले था, मै अब हूँ'—ऐसी एकता का भान क्यो होता है ? इसका उत्तर है कि समुदायमे एकत्वकी बुद्धि दुनियाका सार्वभौमिक नियम है । हम संसारकी जिस किसी चीज़को लेले, सभी हजारो अणुओसे बनी है, जिनके बीच काफ़ी अन्तर है । यह बात लोहे, प्लेटिनम, हीरे—सभी ठोस-से-ठोस वस्तुकी है । यदि हमारी दृष्टि उतनी सूक्ष्म होती, तो हम उन्हे ऐसे ही अलग-अलग देखते, जैसे पास जानेपर जगलके वृक्ष । इस प्रकार दुनियाके सभी दृश्य पदार्थोंके मूलमे अनेकता होनेपर भी एकताका व्यवहार किया जाता है । अनगिनत टुकडोके बने हुए शरीरको हम एक शरीर कहते है । अनेक वृक्षोके बने हुए जगलको एक जंगल कहते है । अनेक तारोके झुरमुटको एक तारा कहते है । हाँ, एक फर्क ज़रूर है । जहाँ शरीर, वन, तारोमे अंगी और अंश एक कालमें और एक देशमे मौजूद रहते है, वहाँ मन प्रतिक्षण एकके बाद एक उत्पन्न होता रहता है । इसके लिए अच्छा उदाहरण बनेठी, चलते वायुयानका पखा, या चलती बिजलीका पंखा ले सकते है । बनेठी-की रोशनी, या पंखेका पख जल्दी-जल्दी इतने सूक्ष्म कालमे एक स्थानमे दूसरे स्थानपर पहुँचता है कि हम उसे ग्रहण नही कर सकते, और काल एक स्वतन्त्र मान बन उसे चक्रके रूपमें ला रखता है । इसी प्रकार मन भी इतना शीघ्र अपनी जगह पर दूसरे मनको उपस्थित कर रहा है कि बीचके अन्तरको हम नहीं ग्रहण कर पाते, और हमे चक्रकी एकताका भान होने लगता है । नदीकी धाराको भी तो आप एक कहते है, किन्तु क्या वह जल हज़ारो बिन्दुओंमें, और बिन्दु अगणित उद्रजन, ओपजनके

परमाणुओंसे, और परमाणु अनेक धनक्रण विद्युत्कणोंमें (जिनके भीतर चक्कर काटनेके लिए काफी अन्तर है), और फिर सूक्ष्मतम अनेकों न्यूट्रनोंसे नहीं बने हैं ? वस्तुत ससारमें सभी जगह समुदाय होको एक कहा जा रहा है। जब हमारी भाषाका यह एक सार्वभौमिक प्रयोग है, तब क्षणिक मनकी सन्तति (??प्रवाह)को साधारण दृष्टिसे हम एक कहने लगे, तो आश्चर्य क्या है ? आश्चर्य तो यह है कि सारी दुनियामें एक कही जानेवाली चीजोंको समूहित देखते हुए भी पूछते है—समूहित है, तो आत्मा क्यों एक मालूम होता है ? सवाल हो सकता है—जब आत्मा क्षणिक है, दूसरे क्षण वह रहता ही नहीं, तो उसकी पूर्णता और परिशुद्धि कैसे ? उत्तर यह है कि हम मनको क्षणिक मानते हुए भी मनकी सन्ततिको क्षणिक नहीं मानते। गगाका पानी, उसका आधार, दोनों कूल और बालू सभी बराबर बदल रहे है, तो भी सबका प्रवाह बना रहता है, जिसे हम एक मान गगा कहते है। इसी चित्त-सन्ततिकी परिशुद्धि और पूर्णता करनी होती है। जितनी ही चित्त-सन्तति राग, द्वेष, मोह-के मलोंसे मुक्त होती है, उतना ही उस पुरुषके कायिक, वाचिक, मानसिक कर्म परिशुद्ध होते जाते है, जिसके फलस्वरूप वह व्यक्ति अपने-परायेका उपकार करनेमें समर्थ होता है। जब उसमें राग-द्वेषका गध नहीं रह जाता, तो व्यक्तिगत स्वार्थके केन्द्रपर केन्द्रित तृष्णा क्रमश परिवार, ग्राम, देश, भूमण्डल, प्राणिमात्रके स्वार्थको अपना बना, अपनी परिधिको अनन्त तक पहुँचा देती है। उस वक्त अनन्त परिधिवाली वह तृष्णा बन्धन-रहित हो तृष्णा ही नहीं रह जाती, उस पुरुषके लिए निर्वाणका मार्ग उन्मुक्त हो जाता है, और वह दु खके फदेसे छूट जाता है। मुक्ति तक पहुँचनेके लिए पुरुषको निजी स्वार्थकी सीमा पार कर लोकहितार्थ सब कुछ उत्सर्ग करना पडता है (आप जातककी सुन्दर कहानियोंमें देखेंगे, पूर्णताके लिए बोधिसत्त्वको कितना उत्सर्ग करना पडता है)। तृष्णाको छोडना दु खके मार्गको रोकना है, क्योंकि दुनियामें अधिकाश दु ख तृष्णा और स्वार्थके कारण ही तो है ?

इस प्रकार मनके क्षणिक होनेपर, चूँकि चित्त-सन्तति क्षणिक नही है, इसलिए उसकी पूर्णता और परिशुद्धि करनी पड़ती है। वस्तुत यदि आत्माको नित्य कूटस्थ आत्मा न मान, उसके स्थानपर क्षण-क्षण उत्पन्न होनेवाले चित्तोकी सन्ततिको माना जाय, तो शव्दपर हमारा कोई आग्रह नही है। चूँकि आत्म शव्द नित्य चेतन वस्तुके लिए व्यवहार होता था, इसलिए बुद्धने अन्-आत्म शव्दका प्रयोग किया।

(३) किसी ग्रन्थको स्वत. प्रमाण न मानना

स्वत. प्रमाण होनेका दावा करनेवाला सिर्फ एक ग्रन्थ नही है। सभी धर्मवाले अपने-अपने ग्रन्थको स्वत प्रमाण मानते और मनवानेकी कोशिश करते है। ब्राह्मण वेदको स्वत प्रमाण मानते है, जिसकी बहुत-सी बाते अन्य धर्मवालोकी पुस्तको एव विज्ञानकी कितनी ही प्रयोग द्वारा सिद्ध बातोक विरुद्ध पडती है। फिर ऐसा ग्रन्थ स्वत प्रमाण कैसे माना जा सकता है ? यदि कहो कि वेद विज्ञानके प्रयोग-सिद्ध सिद्धान्तोके विरुद्ध नही, तो सवाल होगा—यह कैसे मालूम ? उसकी सिद्धिके लिए अन्तमें बुद्धिका ही आश्रय लेना पडेगा। फिर क्या इससे सिद्ध नही होता कि वेदकी प्रामाणिकता भी बुद्धिपर निर्भर है ? फिर तो वेदकी अपेक्षा बुद्धि ही स्वत प्रमाण हुई। जो बात यहाँ वेदके बारेमें कही गई, वही बाइबिल, अंजील, कुरान आदि स्वत. प्रमाण मानी जानेवाली पुस्तकोंके बारेमे भी समझना चाहिए। वस्तुत. जब ईश्वर ही नही, तो ईश्वरकी पुस्तक कहाँसे होगी ?

पुस्तकोंके स्वत प्रमाण माननेसे दुनियामे कितने भयकर अत्याचार हुए है। गेलेलियोकी वह दुर्गति न होती, यदि बाइबिलको स्वत. प्रमाण नही माना जाता। और भी कितने वैज्ञानिकोको जानसे हाथ न धोना पड़ता, यदि बाइबिलको स्वतः प्रमाण न माना जाता। यवन तत्त्व-वेत्ताओंके सहस्राब्दियोंके परिश्रम ग्रन्थरूपमे जिस सिकन्दरियाके पुस्त-कालयमे सुरक्षित थे, उनको जलाकर खाक न किया गया होता, यदि

मुसलमान विजेता कुरानको स्वत. प्रमाण न मानते। किसी ग्रन्थका स्वत प्रमाण मानना असहिष्णुताका कारण होता है, इसने दुनियामे हजारो वर्षोंसे मनुष्य-जातिको धर्मान्धता, मिथ्या-विश्वास और मानसिक दासताके गढेमे ही नही गिरा रखा है, वल्कि इसने ज्ञानके प्रसारमे रुकावट पैदा करनेके साथ खूनसे भी धरतीको रँगनेमे मदद दी है। ईसाई धर्म-युद्ध क्या थे, वाइविल और कुरानके स्वत प्रमाण होनेके झगटेके परिणाम।

किसी ग्रन्थका स्वत प्रमाण मानना, उसमे वर्णित विषयोपर सन्देह न कर आगेकी जिज्ञासाको रोक देना है। जिज्ञासा ही दुनियाके वडे-वडे वैज्ञानिक आविष्कारोके करनेमे कारण हुई है। यदि गैलेलियो वाइ-विलके कहे अनुसार पृथिवीको चिपटी मान लेता, तो उसे पृथिवीके गोल होनेके प्रमाणोका भान न होता। यदि केप्लर वाइविलके सूर्यभ्रमण-को निर्भ्रान्ति मान लेता, तो पृथिवीके घूमनेके अपने तीन नियमोका कहाँसे आविष्कार करता? वस्तुत ग्रन्थके स्वत प्रमाण माननेपर न्युटन गुरुत्वाकर्षणका पता न लगा सकता और न आइन्स्टाइन उसके संशोधक सापेक्षताका महान् सिद्धान्तका आविष्कार कर सकता। वस्तुत संसारमे विद्या, सभ्यता सम्बन्धी जितनी भी प्रगति हुई है, वह ग्रन्थोके स्वत प्रमाणके इनकारसे हुई है। व्यवहारमे कौन मनुष्य अपने धर्म-ग्रन्थकी स्वत. प्रामाणिकता मानता है? ग्रन्थ अपने-अपने समयकी रूढियों, अन्ध-विश्वासो और अज्ञताओसे जकडे होते है। वह अपने समयके धार्मिक, सामाजिक एव राजनैतिक व्यवहारोके परिपोषक होते है। शताब्दियो वाद वह वाते मरी हुई रहती है, तो भी वह मरे मुर्देको गले मढना चाहते है। सेन्टपालके समय स्त्रियोका सिर ढकना उस समयके फैशनके अनुसार अच्छा समझा जाता हो, किन्तु उस लिखावटके कारण आज युरोपकी स्त्रियोको गिरजेमे और न्यायालयमे कसम खाते वक्त टोपी लगानेपर मजबूर क्यो किया जाय, जब कि दूसरी जगह समाज उसकी आवश्यकता नही समझता है?

ग्रन्थके स्वत. प्रमाण होनेके लिए उसके कर्ताको सर्वज्ञ मानना पडेगा—

सर्वज्ञ भी सभी देश, सभी काल, सभी वस्तुके सम्बन्धमें। फिर यदि कोई सर्वज्ञ हमारे पैदा होनेसे हजार वर्ष पूर्व हमारे द्वारा किये जानेवाले अच्छे-बुरे सभी कर्मोंको जानता था, तब तो हम आज वैसा करनेपर मजबूर हैं, अन्यथा उसकी सर्वज्ञता झूठ हो जायगी। फिर मनुष्य ऐसे सर्वज्ञके हाथमें क्या कठपुतली मात्र नहीं है? फिर कठपुतलीको अपने लिए अच्छा-बुरा काम चुनने और करनेका क्या अधिकार? और तब ऐसे धर्म उसके ग्रन्थ और उसमें कही गई शिक्षाओंका प्रयोजन क्या?

परिशुद्ध और मुक्त बननेके लिए कर्म करनेमें मनुष्यका स्वतन्त्र होना ज़रूरी है। कर्म करनेकी स्वतन्त्रताके लिए बुद्धिका स्वतन्त्र होना ज़रूरी है। बुद्धि-स्वातन्त्र्यके लिए किसी ग्रन्थकी परतन्त्रताका न होना आवश्यक है। वस्तुतः किसी ग्रन्थकी प्रामाणिकता उसके बुद्धिपूर्वक होनेपर निर्भर है, न कि बुद्धिकी प्रामाणिकता ग्रन्थपर।

उक्त तीन अस्वीकारात्मक बातें हैं, जिन्हें बुद्ध-धर्म मानता है।

(४) जीवन-प्रवाहको इस शरीरके पूर्व और पश्चात् भी मानना

बच्चेकी उत्पत्तिके साथ उसके जीवनका आरम्भ होता है। बच्चा क्या है? शरीर और मनका समुदाय। शरीर भी कोई एक इकाई नहीं है, बल्कि एक कालमें भी असंख्य अणुओंका समुदाय। यह अणु हर क्षण बदल रहे हैं, और उनकी जगह उनके समान दूसरे अणु उत्पन्न हो रहे हैं। इस प्रकार क्षण-क्षण शरीरमें परिवर्तन हो रहा है। वर्षों बाद वस्तुतः वही शरीर नहीं रहता, किन्तु परिवर्तन सदृश परमाणुओं द्वारा होता है, इसलिए हम कहते हैं—वह वही है। जो बात यहाँ शरीरकी है, मनपर भी लागू होती है, फर्क यही है कि मन सूक्ष्म है, उसका परिवर्तन भी सूक्ष्म है, और पूर्वापर रूपोंका भेद भी सूक्ष्म है, इसलिए उस भेदका समझना दुष्कर है। आत्मा और मन एक ही हैं, और आत्मा क्षण-क्षण बदल रहा है, यह हम दूसरी जगह कह आये हैं।

शरीर और मन (=आत्मा) दोनों बदल रहे है। किसी क्षणके बालकके जीवनको ले लीजिए, वह अपने पूर्वके जीवनाशके प्रभावसे प्रभावित मिलेगा। क ख सीखनेसे लेकर बीचकी श्रेणियोंमे होता हुआ जब वह एम० ए० पास हो जाता है, उसके मनकी सभी परिवर्ती अवस्था उसकी पूर्ववर्ती अवस्थाका परिणाम है। यहाँ हम किसी बिचली एक कडीको छोड नही सकते। बिना मैट्रिकसे गुजरे कैसे कोई एफ० ए० मे पहुँच सकता है ? इस प्रकार कार्य-कारण-शृखला जन्मसे मरण तक अटूट दिखाई पडती है। प्रश्न है, जब जीवन इतने लम्बे समय तक कार्य-कारण-सम्बन्धपर अवलम्बित मालूम होता है और वहाँ कोई स्थिति आकस्मिक नही मिलती, तो जीवनके आरम्भमे उसमे कार्य-कारण नियमको अस्वीकार कर क्या हम उसे आकस्मिक नही मान रहे है ? आकस्मिकता कोई सिद्धान्त नही है, क्योकि उसमे कार्य-कारणके नियमोसे ही इनकार कर देना होता है, जिसके बिना कोई बात सिद्ध नही की जा सकती। यदि कहे—माता-पिताका शरीर जैसे अपने अनुरूप पुत्रके शरीरको जन्म देता है, वैसे ही उनका मन तदनुरूप पुत्रके मनको जन्म देता है, तो कुछ हद तक ठीक होनेपर भी यह बात सर्वांशमे ठीक नही जँचती। यदि ऐसा होता, तो मन्दबुद्धि माता-पिताओको प्रतिभाशाली पुत्र, ऐसे ही प्रतिभाशाली माता-पिताओको मन्दबुद्धि पुत्र न उत्पन्न होते। पडितकी सतान बहुधा मूर्ख देखी जाती है। ये दिक्कते हट जाती है, यदि हम जीवन-प्रवाहको इस शरीरके पहलेसे जान ले। फिर तो हम कह सकते है, हर एक पूर्व जीवन परिवर्ती जीवनको निर्माण करता है। जिस प्रकार खानसे निकला लोहा, पिघलाकर बना कच्चा लोहा और अनेको बार ठडा और गरम करके बना फौलाद तीनो ही लोहे है, तो भी उनमे सस्कारकी मात्रा जैसी कम-ज्यादा है, उसीके अनुसार हम उन्हे कम-अधिक सस्कृत पाते है। प्रतिभाशाली बालककी बुद्धि फौलादकी तरह पहलेके चिर-अभ्याससे सुसस्कृत है। मानसिक अभ्यासका यद्यपि स्मृतिके रूपमे सर्वथा उपस्थित रहना अत्यावश्यक नही है, परन्तु तदनुसार न्यूनाधिक सस्कृत

तो बहुत जरूरी है। इस जन्ममे भी कालेज छोडनेके बाद, कुछ ही वर्षोमे पाठ्य-पुस्तकोंके रटे हुए बहुतसे नियम, सूत्र भूल जाते है, लेकिन इसका मतलब यह नही कि सारे अध्ययनका परिश्रम व्यर्थ जाता है। ताजे घडेमे कुछ दिन रखकर निकाल लिये गये घीकी भाँति, भूल जानेपर भी जो विद्याध्ययन-संस्कार मनके भीतर समा गया रहता है, वही शिक्षाका फल है। कालेज छोडे वर्षो हो जावे, एव पढी बातोको भूल जानेपर भी, जैसे मनुष्यकी मानसिक सस्कृति उसके पूर्वके विद्याभ्यास को प्रमाणित करती है, उसी प्रकार शैशवमे झलकनेवाली प्रतिभाको क्यो न पूर्वके अभ्यासका परिणाम माना जाय? वस्तुत आनुवशिकता और वातावरण मानसिक शक्तिके जितने अशके कारण नही है—और ऐसे अश काफी है (मेधाविता-मन्दबुद्धिता, भद्रता-नृशसता आदि कितने ही अपैतृक गुण मनुष्यमे अकसर दिखाई पडते है) उनका कारण इससे पूर्वके जीवन-प्रवाहमे ढूँढना पडेगा। एक तरुण बडी तपस्यासे अध्ययनकर जिस समय उत्तम श्रेणीमे एम० ए० पास करता है, उसी समय अपने परिश्रमका पारितोषिक पाये बिना उसका यह जीवन समाप्त हो जाता है, उसके इस परिश्रमको शरीरके साथ विनष्ट हो गया माननेकी अपेक्षा क्या यह अच्छा नही है कि उसे प्रतिभाशाली शिशुके साथ जोड़ दिया जाय? अपडित माता-पिताके असाधारण गणितज्ञ, संगीतज्ञ शिशु देखे गये है। उक्त क्रमसे विचारनेपर हमें मालूम होता है कि हमारा इस शरीरका जीवन-प्रवाह एक सुदीर्घ जीवन-प्रवाहका छोटा-सा बीचका अश है, जिसका पूर्वकालीन प्रवाह चिरकालसे आ रहा है, और परकालीन भी चिरकाल तक रहेगा। चिरकाल ही हम कह सकते है, क्योकि अनन्तकाल कहनेपर अनंतकालसे सचित राशिमे कुछ वर्षोका संचित सस्कार कोई विशेष प्रभाव नही रख सकता, जैसे खारे समुद्रमें एक छोटी-सी मिश्रीकी डली। जीवनमे हम प्रभाव होता देखते है, और व्यक्ति और समाज बेहतर बनने-की इच्छा रखकर तभी प्रयत्न कर सकते है, यदि जीवनकी सस्कृतिको अनन्तकालसे प्रयत्नका नही, बल्कि एक परिमित कालके प्रयत्नका परि-

णाम मान ले। वस्तुत अनन्तकाल और अकाल दोनो ही भिन्न-भिन्न मानसिक सस्कृतियोके भेदको आकस्मिक बना देते है। जीवन-प्रवाह इस शरीरसे पूर्वसे आ रहा है, और पीछे भी रहेगा, तो भी अनादि और अनन्त नही है। इसका आरम्भ तृष्णा या स्वार्थपरतासे है, और तृष्णाके क्षयके साथ इसका क्षय हो जाता है।

जीवन-प्रवाहको इस शरीरसे पूर्व और पश्चात्काल भी माननेपर हम निकम्मे-से-निकम्मे आदमीको भी बेहतर बननेकी आशा दिला सकते है। किसी ऊँचे आदर्शके लिए, लोक, समाज या दूसरे व्यक्तिके उत्कर्षके लिए, तभी अपने इस जीवनका उत्सर्ग तक कर देनेवाले पुरुषोकी पर्याप्त सख्या मिल सकती है। तभी मनुष्य अपने अच्छे-बुरे कर्मोके दायित्वको पूरी तरह समझ कर दूसरेके अपकारसे अपनेको रोकनेके लिए तैयार हो सकता है। समाजके हितके लिए व्यक्तियोका आत्म-बलिदानके लिए तैयार रहना एव समाजके अपकार करनेमे व्यक्तियोका आत्म-निग्रह ये दोनो बाते लोकको बेहतर बनानेके लिए अनिवार्यतया आवश्यक है। लोकोन्नति वस्तुतः इन्ही दो बातोपर निर्भर है। इसी शरीरको आदिम और अन्तिम मान लेनेपर उन दोनों बातोकेलिये आदमीको प्रेरक वस्तुका अत्यन्ताभाव यदि नही, तो इतना अभाव जरूर हो जायगा, जिससे ऊपर बढ़नेकी गति रुक जायगी, और फलत. पीछेकी ओर गिरावट आरम्भ हो जायगी।

बुद्धकी शिक्षा और दर्शन इन चार सिद्धान्तोपर अवलम्बित है। पहले तीनो सिद्धान्त बौद्ध धर्मको दुनियाके अन्य धर्मोसे पृथक् करते है। ये तीनो सिद्धान्त भौतिकवाद और बुद्ध-धर्ममे समान है। किन्तु चौथी बात, अर्थात् जीवन-प्रवाहको इसी शरीरतक परिमित न मानना, इसे भौतिकवादसे पृथक् करता है, और साथ ही व्यक्तिकेलिये भविष्यको आशामय बनानेका यह एक सुन्दर उपाय है, जिसके बिना किसी आदर्श-वादका कार्यरूपमे परिणत होना दुष्कर है।

चारो सिद्धान्तो मे पहले तीन, तीन बड़ी परतन्त्रताओमे मनुष्यको

मुक्त कराते है । चौथा आशामय भविष्यका सन्देश देता है और शील सदाचारकेलिये तीव्र बनाता है। चारोंका जिसमें एकत्र सम्मेलन है, वही बुद्ध-धर्म है।

द्वितीय अध्याय

गौतम बुद्ध (५६३-४८३ ई० पू०)

दो सदियों तकके भारतीय दार्शनिक दिमागोंके जबर्दस्त प्रयासका अन्तिम फल हमें बुद्धके दर्शन—क्षणिक अनात्मवाद—के रूपमें मिलता है। आगे हम देखेंगे कि भारतीय दर्शनधाराओंमें जिसने काफी समय तक नई गवेषणाओंको जारी रहने दिया, वह यही धारा थी।—नागार्जुन, असग, वसुबधु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति,—भारतके अप्रतिम दार्शनिक इसी धारामें पैदा हुए थे। उन्हींके ही उच्छिष्ट-भोजी पीछेके प्राय. सारे ही दूसरे भारतीय दार्शनिक दिखलाई पड़ते है।

१—जीवनी

सिद्धार्थ गौतमका जन्म ५६३ ई० पू०के आसपास हुआ था। उनके पिता शुद्धोदनको शाक्योंका राजा कहा जाता है, किन्तु हम जानते है कि शुद्धोदनके साथ-साथ भद्दिय[1] और दण्डपाणि[2]को भी शाक्योंका राजा कहा गया; जिससे यही अर्थ निकलता है कि शाक्योंके प्रजातन्त्रकी गण-सस्था (=सीनेट या पार्लामेंट)के सदस्योंको लिच्छविगणकी भांति राजा कहा जाता था। सिद्धार्थकी माँ मायादेवी अपने मैके जा रही थी, उसी वक्त कपिलवस्तुसे कुछ मीलपर लुम्बिनी[3] नामक शालवनमें सिद्धार्थ पैदा हुए। उनके जन्मसे ३१८ वर्ष बाद तथा अपने राज्याभिषेकके बीसवें साल अशोकने इसी स्थानपर एक पाषाण स्तम्भ गाड़ा था, जो अब भी वहाँ

---

[1] चुल्लवग्ग (विनय-पिटक) ७, ("बुद्धचर्या", पृ० ६०)

[2] मज्झिमनिकाय-अट्ठकथा, १।२।८ [3] वर्तमान रुम्मिनदेई, नेपाल-तराई (नौतनवा-स्टेशनसे ८ मील पश्चिम)।

मौजूद है। सिद्धार्थके जन्मके सप्ताह बाद ही उनकी माँ मर गई, और उनके पालन-पोषणका भार उनकी मौसी तथा सौतेली माँ प्रजापती गौतमीके ऊपर पड़ा। तरुण सिद्धार्थको ससारमे कुछ विरक्त तथा अधिक विचार-मग्न देख, शुद्धोदनको डर लगा कि कहीं उनका लडका भी साधुओके बहकावेमे आकर घर न छोड़ जाये; इसकेलिए उसने पड़ोसी कोलिय गण (=प्रजातंत्र)की सुन्दरी कन्या भद्रा कापिलायनी (या यशोवरा)से विवाह कर दिया। सिद्धार्थ कुछ दिन और ठहर गये, और इस बीचमें उन्हें एक पुत्र पैदा हुआ, जिसे अपने उठते विचार-चन्द्रके ग्रसनेकेलिए राहु समझ उन्होंने राहुल नाम दिया। वृद्ध, रोगी, मृत और प्रव्रजित (=संन्यासी)के चार दृश्योंको देख उनकी ससारसे विरक्ति पक्की हो गई, और एक रात चुपकेसे वह घरसे निकल भागे। इसके बारेमें बुद्धने स्वयं चुनार (=सुसुमारगिरि)मे वत्सराज उदयके पुत्र बोधिराज-कुमारसे कहा था[1]—

"राजकुमार ! बुद्ध होनेसे पहिले....मुझे भी होता था—'सुखमे सुख नही प्राप्त हो सकता दुःखमें सुख प्राप्त हो सकता है।' इसलिए....मैं तरुण बहुत काले केशोवाला ही, सुन्दर यौवनके साथ, प्रथम वयसमें माता-पिताको अश्रुमुख छोड़ घरसे....प्रव्रजित हुआ। ....(पहिले) आलार कालाम(के पास)....गया।...."

आलार कालामने कुछ योगकी विधियाँ बतलाई, किन्तु सिद्धार्थकी जिज्ञासा उससे पूरी नही हुई। वहाँसे चलकर वह उद्दक रामपुत्त(=उद्रक रामपुत्र)के पास गये, वहाँ भी योगकी कुछ बात सीख सके; किन्तु उससे भी उन्हे सन्तोष नही हुआ। फिर उन्होने बोधगयाके पास प्राय छै वर्षो तक योग और अनशनकी भीषण तपस्या की। इस तपस्याके बारेमे वह खुद कहते है[2]—

"मेरा शरीर (दुर्बलता)की चरमसीमा तक पहुँच गया था। जैसे

---

[1] मज्झिम-निकाय, २।४।५ (अनुवाद, पृ० ३४५) [2] वही, पृ० २४८

. . आसीतिक (अस्सी सालवाले)की गाँठे . वैसे ही मेरे अग प्रत्यग हो गए थे। . .जैसे ऊँटका पैर वैसे ही मेरा कूल्हा हो गया था। जैसे. . .सूओंकी (ऊँची नीची) पाँती वैसे ही पीठके काँटे हो गये थे। जैसे शालकी पुरानी कडियाँ टेढी-मेढी होती है, वैसी ही मेरी पँसुलियाँ हो गई थी। . .जैसे गहरे कूएमे तारा, वैसे ही मेरी आँखें दिखाई देती थीं। जैसे कच्ची तोडी कटवी लौकी हवा-धूपमे चुचक जाती है, मुर्झा जाती है, वैसे ही मेरे शिरकी खाल चुचक मुर्झा गई थी। . उस अनशनसे मेरे पीठके काँटे और पैरकी खाल बिलकुल सट गई थी। . यदि मै पाखाना या पेशाब करनेकेलिए (उठता) तो वही भहराकर गिर पडता। जब मै कायाको सहराते हुए, हाथसे गात्रको मसलता, तो. . .कायासे सडी जडवाले रोम झड पडते। . . . मनुष्य. . कहते—'श्रमण गौतम काला है' कोई. . . .कहते—'. . . काला नही स्याम'। . कोई . .कहते—'. .मगुरवर्ण है'। मेरा वैसा परिशुद्ध, गोरा (=परि-अवदात) चमडेका रग नष्ट हो गया था। . .

". . .लेकिन . मैने इस (तपस्या) मे उस चरम. . . . दर्शन. . .को न पाया। (तब विचार हुआ) बोधि(=ज्ञान)केलिए क्या कोई दूसरा मार्ग है? . . . .तब मुझे हुआ—'. . मैने पिता (=शुद्धोदन) शाक्यके खेतपर जामुनकी ठडी छायाके नीचे बैठ. . . प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहार किया था, शायद वह मार्ग बोधिका हो। '. . .(किन्तु) इस प्रकारकी अत्यन्त कृश पतली कायासे वह (ध्यान-)सुख मिलना सुकर नहीं है।. फिर मै स्थूल आहार—दाल-भात—ग्रहण करने लगा।. .उस समय मेरे पास पांच भिक्षु रहा करते थे।. . .जब मै स्थूल आहार. . .ग्रहण करने लगा। तो वह पाँचो भिक्षु. . . .उदासीन हो चले गये। . . "

आगेकी जीवनयात्राके बारेमें बुद्ध अन्यत्र कहते है[1]—

---

[1] म० नि०, १।३।६ (अनुवाद, पृ० १०५)

"मैंने एक रमणीय भूभागमें, वनखंडमे एक नदी (=निरजना)को वहते देखा। उसका घाट रमणीय और श्वेत था। यही ध्यान-योग्य स्थान है, (सोच) वहाँ वैठ गया। (और)....जन्मनेके दुष्परिणामको जान....अनुपम निर्वाणको पा लिया....मेरा ज्ञान दर्शन (=साक्षात्कार) वन गया, मेरे चित्तकी भुक्ति अचल हो गई, यह अन्तिम जन्म है, फिर अव (दूसरा) जन्म नही (होगा)।"

सिद्धार्थका यह ज्ञान दर्शन था—दु ख है, दु खका हेतु (=समुदय), दु खका निरोध-(=विनाश) है और दु ख-निरोधका मार्ग। 'जो धर्म (=वस्तुए घटनाए) है, वह हेतुसे उत्पन्न होते है। उनके हेतुको, वुद्धने कहा। और उनका जो निरोध है (उसे भी), ऐसा मत रखनेवाला महा श्रमण।"[1]

सिद्धार्थने उनतीस सालकी आयु (५३४ ई० पू०)में घर छोडा। छै वर्ष तक योग-तपस्या करनेके वाद ध्यान और चिन्तन द्वारा ३६ वर्षकी आयु (५२८ ई० पू०)में वोधि (=ज्ञान)प्राप्त कर वह वुद्ध हुए। फिर ४५ वर्ष तक उन्होने अपने धर्म (=दर्शन)का उपदेश कर ८० वर्षकी उम्रमें ४८३ ई० पू०मे कुसीनारा[2]में निर्वाण प्राप्त किया।

२—साधारण विचार

वुद्ध होनेके वाद उन्होंने सवसे पहिले अपने ज्ञानका अधिकारी उन्ही पाँचो भिक्षुओको समझा, जो कि अनशन त्यागनेके कारण पतित समझ उन्हें छोड गये थे। पता लगाकर वह उनके आश्रम ऋषि-पतन मृगदाव (सारनाथ, वनारस) पहुँचे। वुद्धका पहिला उपदेश उसी शकाको हटानेके लिए था, जिसके कारण कि अनशन तोड आहार आरम्भ करनेवाले गौतम-

---

[1] "ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत्।
तेषां च यो निरोध एवंवादी महाश्रमणः।"

[2] कसया, जिला गोरखपुर।

को वह छोड आये थे। बुद्धने कहा[1]—

"भिक्षुओ! इन दो अतियो (=चरम-पथों)को.. नहीं सेवन करना चाहिए।—(१) . काम-सुखमें लिप्त होना, . . . (२). शरीर पीडामे लगना।—इन दोनो अतियोको छोड . (मै)ने मध्यम-मार्ग खोज निकाला है, (जो कि) आँख देनेवाला, ज्ञान करानेवाला शान्ति (देने)वाला है। . वह (मध्यम-मार्ग) यही आर्य (=श्रेष्ठ) अष्टागिक (=आठ अगोवाला) मार्ग है, जैसे कि—ठीक दृष्टि (=दर्शन), ठीक सकल्प, ठीक वचन, ठीक कर्म, ठीक जीविका, ठीक प्रयत्न, ठीक स्मृति और ठीक समाधि।. ."

(१) चार आर्य-सत्य—

दु:ख, दु:ख-समुदय (०हेतु), दु:ख निरोध, दु:खनिरोधगामी मार्ग—जिनका जिक्र अभी हम कर चुके है, उन्हें बुद्धने आर्य-सत्य—श्रेष्ठ सच्चाइयाँ—कहा है।

क. दु:ख-सत्यकी व्याख्या करते हुए बुद्धने कहा है—"जन्म भी दु:ख है, बुढापा भी दु:ख है, मरण. . . .शोक-रुदन—मनकी खिन्नता—हैरानगी दु:ख है। अ-प्रियसे सयोग, प्रियसे वियोग भी दु:ख है, इच्छा करके जिसे नही पाता वह भी दु:ख है। सक्षेपमे पाँचो उपादान स्कन्ध दु:ख है।"[2]

(**पाँच उपादान स्कंध**)—रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान—यही पाँचो उपादान स्कध है।

(a) रूप—चारो महाभूत—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, यह रूप-उपादान स्कध है।

---

[1] "धर्मचक्रप्रवर्त्तन-सूत्र"—सयुत-निकाय ५५।२।१ ("बुद्धचर्या", पृ० २३)

[2] महासतिपट्ठान-सुत्त (दीघ-निकाय, २।९)

(b) वेदना—हम वस्तुओ या उनके विचारके सम्पर्कमे आनेपर जो सुख, दुख, या न सुख-दुखके रूपमें अनुभव करते है, इसे ही वेदना स्कंध कहते है।

(c) संज्ञा—वेदनाके बाद हमारे मस्तिष्कपर पहिलेसे ही अंकित संस्कारो द्वारा जो हम पहिचानते है—'यह वही देवदत्त है', इसे सज्ञा कहते है।

(d) संस्कार—रूपोकी वेदनाओ और सज्ञाओका जो संस्कार मस्तिष्कपर पडा रहता है, और जिसकी सहायतासे कि हमने पहिचाना—'यह वही देवदत्त है', इसे संस्कार कहते है।

(e) विज्ञान—चेतना या मनको विज्ञान कहते है।

ये पाँचो स्कंध जब व्यक्तिकी तृष्णाके विषय होकर पास आते है, तो इन्हें ही उपादान स्कंध कहते है। बुद्धने इन पाँचो उपादान-स्कंधोको दु ख-रूप कहा है।

ख. दुःख हेतु—दु खका हेतु क्या है? तृष्णा—काम (भोग) की तृष्णा, भवकी तृष्णा, विभवकी तृष्णा। इन्द्रियोके जितने प्रिय विषय या काम है, उन विषयोके साथ संपर्क, उनका ख्याल, तृष्णाको पैदा करता है। "काम (=प्रिय भोग) केलिए ही राजा भी राजाओसे लडते है, क्षत्रिय भी क्षत्रियोसे, ब्राह्मण भी ब्राह्मणोंसे, गृहपति (=वैश्य) भी गृहपतिसे, माता भी पुत्रसे, पुत्र भी मातासे, पिता पुत्रसे, पुत्र पितासे, भाई भाईसे, बहिन भाईसे, भाई बहिनसे, मित्र मित्रसे लड़ते है। वह आपसमें कलह-विग्रह-विवाद करते एक दूसरेपर हाथसे भी, दंडसे भी, शस्त्रसे भी आक्रमण करते है। वह (इससे) मर भी जाते है, मरण-समान दु:खको प्राप्त होते है।"[1]

ग. दुःख-विनाश—उसी तृष्णाके अत्यन्त निरोध, परित्याग विनाशको दु ख-निरोध कहते है। प्रिय विषयो और तद्विषयक विचारो-विकल्पोंमे जब तृष्णा छूट जाती है, तभी तृष्णाका निरोध होता है।

---

[1] मज्झिम-निकाय, १।२।३

तृष्णाके नाश होनेपर उपादान (=विषयोंके सग्रह करने)का निरोध होता है। उपादानके निरोधसे भव (=लोक)का निरोध होता है, भव निरोधसे जन्म (=पुनर्जन्म)का निरोध होता है। जन्मके निरोधसे बुढापा, मरण, शोक, रोना, दु ख, मनकी खिन्नता, हैरानगी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार दु खोका निरोध होता है।

यही दु खनिरोध बुद्धके सारे दर्शनका केन्द्र-विन्दु है।

घ. दुःख-विनाशका मार्ग—दु ख निरोधकी ओर ले जानेवाला मार्ग क्या है?—**आर्य अष्टागिक मार्ग** जिन्हें पहिले गिना आए है। आर्य-अष्टागिक मार्गकी आठ वातोको ज्ञान (=प्रज्ञा), सदाचार (=शील) और योग (=समाधि) इन तीन भागो (=स्कधो)मे वाँटनेपर वह होते है—

(क) ज्ञान	ठीक दृष्टि ठीक सकल्प
(ख) शील	ठीक वचन ठीक कर्म ठीक जीविका
(ग) समाधि	ठीक प्रयत्न ठीक स्मृति ठीक समाधि

(क) ठीक ज्ञान—

(a) ठीक (=सम्यग्) दृष्टि—कायिक, वाचिक, मानसिक, भले बुरे कर्मोंके ठीक-ठीक ज्ञानको ठीक दृष्टि कहते है। भले बुरे कर्म इस प्रकार है—

	बुरे कर्म	भले कर्म
कायिक	१ हिंसा	अ-हिंसा
	२ चोरी	अ-चोरी
	३ (यौन) व्यभिचार	अ-व्यभिचार

वाचिक	४. मिथ्याभाषण	अ-मिथ्याभाषण
	५. चुगली	न-चुगली
	६. कटुभाषण	अ-कटुभाषण
	७. बकवास	न-बकवास
मानसिक	८. लोभ	अ-लोभ
	९. प्रतिहिंसा	अ-प्रतिहिंसा
	१० झूठी धारणा	न-झूठी धारणा

'दुःख, हेतु, निरोध, मार्गका ठीकसे ज्ञान ही ठीक दृष्टि (=दर्शन) कही जाती है।

(b) ठीक संकल्प—राग-, हिंसा-, प्रतिहिंसा-,रहित सकल्पको ही ठीक सकल्प कहते है।

(ख) ठीक आचार—

(a) ठीक वचन—झूठ, चुगली, कटुभाषण और बकवाससे रहित सच्ची मीठी बातोंका बोलना।

(b) ठीक कर्म—हिंसा-चोरी-व्यभिचार-रहित कर्म ही ठीक कर्म है।

(c) ठीक जीविका—झूठी जीविका छोड़ सच्ची जीविकासे शरीर-यात्रा चलाना। उस समयके शासक-शोषक समाजद्वारा अनुमोदित सभी जीविकाओंमें सिर्फ प्राणि हिंसा संबधी निम्न जीविकाओंको ही बुद्धने झूठी जीविका कहा[1]—

"हथियारका व्यापार; प्राणिका व्यापार, मांसका व्यापार, मद्यका व्यापार, विषका व्यापार।"

(ग) ठीक समाधि—

(a) ठीक प्रयत्न (=व्यायाम)—इन्द्रियोंपर संयम, बुरी भावनाओंको रोकने तथा अच्छी भावनाओंके उत्पादनका प्रयत्न, उत्पन्न अच्छी

---

[1] अंगुत्तर-निकाय, ५

भावनाओंको कायम रखनेका प्रयत्न—ये ठीक प्रयत्न हैं।

(b) ठीक स्मृति—काया, वेदना, चित्त और मनके धर्मोकी ठीक स्थितियों—उनके मलिन, क्षण-विध्वंसी आदि होने—का सदा स्मरण रखना।

(c) ठीक समाधि—"चित्तकी एकाग्रताको समाधि कहते हैं"।[1] ठीक समाधि वह है जिससे मनके विक्षेपोंको हटाया जा सके। बुद्धकी शिक्षाओंको अत्यन्त संक्षेपमें एक पुरानी गाथामें इस तरह कहा गया है—

"सारी बुराइयोंका न करना, और अच्छाइयोंका संपादन करना; अपने चित्तका संयम करना, यह बुद्धकी शिक्षा है।"

अपनी शिक्षाका क्या मुख्य प्रयोजन है, इसे बुद्धने इस तरह बतलाया है[2]—

"भिक्षुओ! यह ब्रह्मचर्य (=भिक्षुका जीवन) न लाभ-सत्कार-प्रशंसा केलिए है, न शील (=सदाचार)की प्राप्तिकेलिए, न समाधि प्राप्तिकेलिए, न ज्ञान=दर्शनकेलिए है। जो न अटूट चित्तकी मुक्ति है, उसीकेलिए . यह ब्रह्मचर्य है, यही सार है, यही उसका अन्त है।

बुद्धके दार्शनिक विचारोंको देनेसे पूर्व उनके जीवनके बाकी अंशको समाप्त कर देना जरूरी है।

सारनाथमें अपने धर्मका प्रथम उपदेश कर, वहीं वर्षा बिता, वर्षाके अन्तमें स्थान छोडते हुए प्रथम चार मासोंमें हुए अपने साठ शिष्योंको उन्होंने इस तरह संबोधित किया—[3]

"भिक्षुओ! बहुत जनोंके हितकेलिए, बहुत जनोंके सुखकेलिए, लोकपर दया करनेकेलिए, देव-मनुष्योंके प्रयोजन-हित-सुखकेलिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ।. . मैं भी. . .उरुवेला. . . .सेनानी-गाममें . धर्म-उपदेशकेलिए जा रहा हूँ।"

---

[1] म० नि०, १।५।४　　[2] म० नि०, १।३।९

[3] संयुत्त-नि०, ४।१।४

इसके बाद ४४ वर्ष। बुद्ध जीवित रहे। इन ४४ वर्षोके बरसातके तीन मासोको छोड वह बराबर विचरते, जहाँ-तहाँ ठहरते, लोगोको अपने धर्म और दर्शनका उपदेश करते रहे।[1] बुद्धने बुद्धत्व प्राप्तिके बादकी ४४ बरसातोको निम्न स्थानोपर बिताया था—

स्थान	ई० पू०
(लुबिनी जन्म	५६३)
(बोधगया बुद्धत्वमें	५२८)
१. ऋषिपतन (सारनाथ)	५२८
२-४. राजगृह	५२७-२५
५. वैशाली	५२४
६ मंकुल पर्वत (बिहार)	५२३
७. . (त्रयस्त्रिश ?)	५२२
८ सुसुमारगिरि(=चुनार)	५२१
९. कौशाम्बी (इलाहाबाद)	५२०
१०. पारिलेयक (मिर्जापुर)	५१९
११. नाला (बिहार)	५१८
१२. वैरजा (कन्नौज-मथुराके बीच)	५१७
१३. चालिय पर्वत (बिहार)	५१६
१४. श्रावस्ती (गोडा)	५१५
१५. कपिलवस्तु	५१४
१६. आलवी (अरवल)	५१३
१७. राजगृह	५१२
१८ चालिय पर्वत	५११
१९. चालिय पर्वत	५१०
२० राजगृह	५०९
२१-४५ श्रावस्ती	५०८-४८४
४६ वैशाली	४८३
(कुसीनारामें निर्वाण ४८३)	

उनके विचरणका स्थान प्राय. सारे युक्त प्रान्त और सारे बिहार तक सीमित था। इससे बाहर वह कभी नही गये।

(२) जनतंत्रवाद—

हम देख चुके है, कि जहाँ बुद्ध एक ओर अत्यन्त भोग-मय जीवनके विरुद्ध थे, वहाँ दूसरी ओर वह शरीर सुखानेको भी मूर्खता समझते थे। कर्मकाड, भक्तिकी अपेक्षा उनका झुकाव ज्ञान और बुद्धिवादकी ओर

---

[1] बुद्धके जीवन और मुख्य-मुख्य उपदेशोंको प्राचीनतम सामग्रीके आधारपर मैंने "बुद्धचर्या"में संगृहीत किया है।

ज्यादा था। उनके दर्शनकी विशेषताको हम अभी कहनेवाले हैं। इन सारी बातोंके कारण अपने जीवनमे और बादमें भी बुद्ध प्रतिभाशाली व्यक्तियोको आकर्षित करनेमें समर्थ हुए। मगधके सारिपुत्र, मौद्गल्यायन, महाकाश्यप ही नहीं, सुदूर उज्जैनके राजपुरोहित महाकात्यायन जैसे विद्वान् ब्राह्मण उनके शिष्य बने जिन्होने ब्राह्मणोके धर्म और स्वार्थके विरोधी बौद्धधर्मके प्रति ब्राह्मणोमे कटुता फैलने—खासकर प्रारंभिक सदियोंमे—से रोका। मगधका राजा बिंबिसार बुद्धका अनुयायी था। कोसलके राजा प्रसेनजित्को इसका बहुत अभिमान था कि बुद्ध भी कोसल क्षत्रिय है और वह भी कोसल क्षत्रिय। उसने बुद्धका और नजदीकी बननेकेलिए शाक्यवशकी कन्याके साथ ब्याह किया था। शाक्य-, मल्ल-, लिच्छवि-प्रजातत्रोमें उनके अनुयायियोकी भारी सख्या थी। बुद्धका जन्म एक प्रजातत्र (शाक्य)में हुआ था, और मृत्यु भी एक प्रजातत्र (मल्ल) हीमें हुई। प्रजातत्र-प्रणाली उनको कितनी प्रिय थी, यह इसीसे मालूम है, कि अजातशत्रुके साथ अच्छा संबंध होनेपर भी उन्होने उसके विरोधी वैशालीके लिच्छवियोकी प्रशसा करते हुए राष्ट्रके अपराजित रखनेवाली निम्न सात बाते बतलाई[1]—

(१) बराबर एकत्रित हो सामूहिक निर्णय करना; (२) (निर्णयके अनुसार) कर्त्तव्यको एक हो करना, (३) व्यवस्था (=कानून और विनय)का पालन करना, (४) वृद्धोका सत्कार करना; (५) स्त्रियोपर जबर्दस्ती नही करना, (६) जातीय धर्मका पालन करना, (७) धर्माचार्योका सत्कार करना।

इन सात बातोमे सामूहिक निर्णय, सामूहिक कर्त्तव्य-पालन, स्त्री-स्वातत्र्य प्रगतिके अनुकूल विचार थे, किन्तु बाकी बातोपर जोर देना यही बतलाता है, कि वह तत्कालीन सामाजिक व्यवस्थामे हस्तक्षेप नही करना

---

[1] देखो, महापरिनिब्बाण-सुत्त (दी० नि०, २।३), "बुद्धचर्या", पृष्ठ ५२०-२२

चाहते थे। वैयक्तिक तृष्णाके दुष्परिणामको उन्होंने देखा था। दु खोंका कारण यही तृष्णा है। दु खोंका चित्रण करते हुए उन्होंने कहा था[1]—

"चिरकालसे तुमने ...माता-पिता-पुत्र-दुहिताके मरणको सहा, . भोग-रोगकी आफतोंको सहा, प्रियके वियोग, अप्रियके संयोगसे रोते क्रन्दन करते जितना आँसू तुमने गिराया, वह चारों समुद्रोंके जलसे भी ज्यादा है।"

यहाँ उन्होंने दु ख और उसकी जड़को समाजमें न ख्याल कर व्यक्तिमें देखनेकी कोशिश की। भोगकी तृष्णाकेलिए राजाओं, क्षत्रियों, ब्राह्मणों, वैश्यों, सारी दुनियाको झगड़ते मरते-मारते देख भी उस तृष्णाको व्यक्तिसे हटानेकी कोशिश की। उनके मतानुसार मानो, काँटोंसे बँचनेकेलिए सारी पृथिवीको तो नहीं ढाँका जा सकता है, हाँ, अपने पैरोंको चमडेसे ढाँक कर काँटोंसे बचा जा सकता है। वह समय भी ऐसा नहीं था, कि बुद्ध जैसे प्रयोगवादी दार्शनिक, सामाजिक पापोंको सामाजिक चिकित्सासे दूर करनेकी कोशिश करते। तो भी वैयक्तिक सम्पत्तिकी बुराइयोंको वह जानते थे, इसीलिए जहाँ तक उनके अपने भिक्षु-संघका संबंध था, उन्होंने उसे हटाकर भोगमें पूर्ण साम्यवाद स्थापित करना चाहा।

(३) दुःख-विनाश-मार्गकी त्रुटियाँ—

बुद्धका दर्शन घोर क्षणिकवादी है, किसी वस्तुको वह एक क्षणसे अधिक ठहरनेवाली नहीं मानते, किन्तु इस दृष्टिको उन्होंने समाजकी आर्थिक व्यवस्थापर लागू नहीं करना चाहा। सम्पत्तिशाली शासक-शोषक-समाजके साथ इस प्रकार शान्ति स्थापित कर लेनेपर उनके जैसे प्रतिभाशाली दार्शनिकका ऊपरके तबकेमें सम्मान बढना लाजिमी था। पुरोहित-वर्गके कूटदंत, सोणदड जैसे धनी प्रभुताशाली ब्राह्मण उनके अनुयायी बनते थे, राजा लोग उनकी आवभगतकेलिए उतावले दिखाई पड़ते थे। उस वक्तका धनकुबेर व्यापारी-वर्ग तो उससे भी

---

[1] सं० नि०, १४

ज्यादा उनके सत्कारकेलिए अपनी थैलियाँ खोले रहता था, जितने कि आजके भारतीय महासेठ गाँधीकेलिए। श्रावस्तीके धनकुवेर सुदत्त (अनाथपिंडक)ने सिक्केसे ढाँक एक भारी बाग (जेतवन) खरीदकर बुद्ध और उनके भिक्षुओंके रहनेकेलिए दिया। उसी शहरकी दूसरी सेठानी विशाखाने भारी व्ययके साथ एक दूसरा विहार (=मठ) पूर्वाराम बनवाया था। दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम भारतके साथ व्यापारके महान केन्द्र कौशाम्बीके तीन भारी सेठोंने तो विहार बनवानेमें होड़सी कर ली थी। सच तो यह है, कि बुद्धके धर्मको फैलानेमें राजाओंसे भी अधिक व्यापारियोंने सहायता की। यदि बुद्ध तत्कालीन आर्थिक व्यवस्थाके खिलाफ जाते तो यह सुभीता कहाँसे हो सकता था?

३—दार्शनिक विचार

"अनित्य, दुःख, अनात्म"[1] इस एक सूत्रमें बुद्धका सारा दर्शन आ जाता है। इनमें दुःखके बारेमें हम कह चुके हैं।

(१) **क्षणिकवाद**—बुद्धने तत्त्वोंको विभाजन तीन प्रकारसे किया है—(१) स्कन्ध, (२) आयतन, (३) धातु।

स्कन्ध पाँच हैं—रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान। रूपमें पृथिवी आदि चारो महाभूत शामिल हैं। विज्ञान चेतना या मन है। वेदना सुख-दुःख आदिका जो अनुभव होता है उसे कहते हैं। सज्ञा होश या अभिज्ञानको कहते हैं। सस्कार मनपर बच रही छाप या वासनाको कहते हैं। इस प्रकार वेदना, सज्ञा, सस्कार—रूपके सपर्कसे विज्ञान (=मन)की भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं।[2] बुद्धने इन स्कधोंको "अ-नित्य सस्कृत (=कृत)=

---

[1] अगुत्तर-निकाय, ३।१।३४

[2] महावेदल्ल-सुत्त; म० नि०, १।५।३—"सज्ञा . . . वेदना . . . विज्ञान . . . यह तीनों धर्म (=पदार्थ) मिलेजुले हैं, विलग नहीं . . . विलग करके इनका भेद नहीं जतलाया जा सकता।

प्रतीत्य समुत्पन्न=क्षय धर्मवाला=व्यय, धर्मवाला=... निरोध (=विनाश) धर्मवाला"[1] कहा है।

आयतन बारह है—छै इन्द्रियाँ (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काया या चमडा और मन) और छै उनके विषय—रूप, शब्द, गंध, रस, स्प्रष्टव्य, और धर्म (=वेदना, संज्ञा, संस्कार)।

धातु अठारह है—उपरोक्त छै इन्द्रियाँ तथा उनके छै विषय; और इन इन्द्रियो तथा विषयोके सपर्कसे होनेवाले छै विज्ञान (=चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान और मन-विज्ञान)।

विश्वकी सारी वस्तुए स्कन्ध, आयतन, धातु तीनोमेंसे किसी एक प्रक्रियामे बाँटी जा सकती है। इन्हे ही नाम और रूपमें भी विभक्त किया जाता है, जिनमें नाम विज्ञानका पर्यायवाची है। यह सभी अनित्य है—[2]

"यह अटल नियम है—....रूप (महाभूत) वेदना, संज्ञा संस्कार, विज्ञान (ये) सारे संस्कार (=कृत वस्तुए) अनित्य है।"

"रूप....वेदना....संज्ञा....संस्कार....विज्ञान (ये पाँचो स्कंध) नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अविकारी नही है, यह लोकमें पंडितसम्मत (बात) है। मै भी (वैसा) ही कहता हूँ। ऐसा कहने....समझाने ....पर भी जो नही समझता नही देखता, उस....बालक (=मूर्ख) ....अन्धे, बेआँख, अजान....केलिए मै क्या कर सकता हूँ।[3]

रूप (भौतिक पदार्थ)की क्षणिकताको तो आसानीसे समझा जा सकता है। विज्ञान (=मन) उससे भी क्षणभंगुर है, इसे दर्शाते हुए बुद्ध कहते है—

"भिक्षुओ! यह बल्कि बेहतर है, कि अजान ..(पुरुष) इस चार महाभूतोकी कायाको ही आत्मा (=नित्य तत्त्व) मान लें, किन्तु

---

[1] महानिदान-सुत्त (दी० नि०, २।१५; "बुद्धचर्या", १३३)
[2] अंगुत्तर-निकाय, ३।१।३४ [3] संयुत्त-नि०, १६

चित्तको (वैसा मानना ठीक) नही। सो क्यो? .. चारो महाभूतोकी यह काया एक. . दो . तीन. चार . पाच छै सात वर्ष तक भी मौजूद देखी जाती है; किन्तु जिसे 'चित्त' 'मन' या 'विज्ञान' कहा जाता है, वह रात और दिनमें भी (पहिलेसे) दूसरा ही उत्पन्न होता है, दूसरा ही नष्ट होता है।"[1]

बुद्धके दर्शनमे अनित्यता एक ऐसा नियम है, जिसका कोई अपवाद नही है।

बुद्धका अनित्यवाद भी "दूसरा ही उत्पन्न होता है, दूसरा ही नष्ट होता है"के कहे अनुसार किसी एक मौलिक तत्त्वका बाहरी परिवर्तनमात्र नही, बल्कि एकका बिलकुल नाश और दूसरेका बिलकुल नया उत्पाद है।—बुद्ध कार्य-कारणकी निरन्तर या अविच्छिन्न सन्ततिको नही मानते।

(२) **प्रतीत्य-समुत्पाद**—यद्यपि कार्य-कारणको बुद्ध अविच्छिन्न सन्तति नही मानते, तो भी वह यह मानते है कि "इसके होनेपर यह होता है"[2] (एकके विनाशके बाद दूसरेकी उत्पत्ति इसी नियमको बुद्धने **प्रतीत्य-समुत्पाद** नाम दिया है)। हर एक उत्पादका कोई **प्रत्यय** है। प्रत्यय और हेतु (=कारण) समानार्थक शब्द मालूम होते है, किन्तु बुद्ध प्रत्ययसे वही अर्थ नही लेते, जो कि दूसरे दार्शनिकोको हेतु या कारणसे अभिप्रेत है। 'प्रत्ययसे उत्पाद'का अर्थ है, बीतनेसे उत्पाद—यानी एकके बीत जाने नष्ट हो जानेपर दूसरेकी उत्पत्ति। बुद्धका **प्रत्यय** ऐसा हेतु है, जो किसी वस्तु या घटनाके उत्पन्न होनेसे पहिले क्षण सदा लुप्त होते देखा जाता है। प्रतीत्य समुत्पाद कार्यकारण नियमको अविच्छिन्न नही **विच्छिन्न प्रवाह**[3] बतलाता है। **प्रतीत्य-समुत्पाद**के इसी विच्छिन्न प्रवाहको लेकर आगे नागार्जुनने अपने शून्यवादको विकसित किया।

---

[1] सयुत्त-नि०, १२।७　　[2] "अस्मिन् सति इद भवति।" (म० नि०, १।४।८; अनुवाद, पृ० १५५)

[3] Discontinuous continuity.

प्रतीत्य-समुत्पाद बुद्धके सारे दर्शनका आधार है, उनके दर्शनके समझनेकी यह कुंजी है, यह खुद बुद्धने इस वचनसे मालूम होता है[1]—

"जो प्रतीत्य समुत्पादको देखता है, वह धर्म (=बुद्धके दर्शन) को देखता है, जो धर्मको देखता है, वह प्रतीत्य समुत्पादको देखता है। यह पाँच उपादान स्कंध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) प्रतीत्य समुत्पन्न (=विच्छिन्न प्रवाहके तौरपर उत्पन्न) है।"

प्रतीत्य-समुत्पादके नियमको मानव व्यक्तिमे लगाते हुए, बुद्धने इसके बारह अंग (=द्वादशांग प्रतीत्य समुत्पाद) बतलाये है। पुराने उपनिषद्के दार्शनिक तथा दूसरे कितने ही आचार्य नित्य ध्रुव, अविनाशी, तत्त्वको आत्मा कहते थे। बुद्धके प्रतीत्य-समुत्पादमे आत्माकेलिए कोई गुंजाइश न थी. इसीलिए आत्मवादको वह महा-अविद्या कहते थे। इस बातको उन्होने अपने एक उपदेशमें अच्छी तरह समझाया है[2]—

"साति केवट्टपुत्त भिक्षुको ऐसी बुरी दृष्टि (=धारणा) उत्पन्न हुई थी—मैं भगवान्के उपदिष्ट धर्मको इस प्रकार जानता हूँ, कि दूसरा नही बल्कि वही (एक) विज्ञान (=जीव) संसरण-सधावन (=आवागमन) करता रहता है।"

बुद्धने यह बात सुनी तो बुलाकर पूछा—

" 'क्या सचमुच साति! तुझे इस प्रकारकी बुरी धारणा हुई है?'

'हाँ, ... दूसरा नही वही विज्ञान (=जीव) संसरण-सधावन करता है।'

'साति! वह विज्ञान क्या है?'

'यह जो, भन्ते! वक्ता अनुभव करता है, जो कि वहाँ-वहाँ (जन्म लेकर) अच्छे बुरे कर्मोके फलको अनुभव करता है।'

'निकम्मे (=मोघपुरुष)! तूने किसको मुझे ऐसा उपदेश करते

---

[1] मज्झिम-नि०, १।३।८

[2] महातण्हा-संखय-सुत्तन्त, म० नि०, १।४।८ (अनुवाद, पृ० १५१-८)

सुना ? मैंने तो मोघपुरुष ! विज्ञान(=जीव)को अनेक प्रकारसे प्रतीत्य-समुत्पन्न कहा है—प्रत्यय (=विगत) होनेके बिना विज्ञानका प्रादुर्भाव नही हो सकता (बतलाया है)। मोघपुरुष ! तू अपनी ठीकसे न समझी बातका हमारे ऊपर लाछन लगाता है।' "

फिर भिक्षुओंको सबोधित करते हुए कहा—

" 'भिक्षुओ ! जिस-जिस प्रत्ययसे विज्ञान(=जीव) चेतना उत्पन्न होता है, वही उसकी सज्ञा होती है। चक्षुके निमित्तसे (जो) विज्ञान उत्पन्न होता है, उसकी चक्षुर्विज्ञान ही सज्ञा होती है। (इसी प्रकार) श्रोत्र-, घ्राण-, रस-, काया, मन-विज्ञान सज्ञा होती है।. . .जैसे. . जिस जिस निमित्त (=प्रत्यय)से आग जलती है, वही-वही उसकी सज्ञा होती है,. . .काष्ट-अग्नि तृण-अग्नि .तुष-अग्नि . '

". . 'यह (पाँच स्कन्ध) उत्पन्न है—यह अच्छी प्रकार प्रज्ञासे देखनेपर (आत्माके होनेका) सन्देह नष्ट हो जाता है न ?'

'हाँ, भन्ते !'

'भिक्षुओ ! 'यह (पाँच स्कन्ध) उत्पन्न है'—इस (विषयमे) तुम सन्देह-रहित हो न ?'

'हाँ, भन्ते !'

"भिक्षुओ ! 'यह (पाँच स्कन्ध=भौतिक तत्त्व और मन) उत्पन्न है',. . . 'यह अपने आहारसे उत्पन्न है' 'यह अपने आहारके निरोधसे निरुद्ध होनेवाला है'—यह ठीकसे अच्छी प्रकार जानना सुदृष्ट है न ?'

'हाँ, भन्ते !'

'भिक्षुओ ! तुम इस . .परिशुद्ध (सु-)दृष्ट (विचार)में भी आसक्त न होना, रमण न करना, 'मेरा धन है'—न समझना, न ममता करना। बल्कि भिक्षुओ ! मेरे उपदेश किए धर्मको बेड़े (=कुल्ल)के समान समझना, (यह) पार होनेकेलिए है, पकड रखनेकेलिए नही है।'

साति केवट्टपुत्तके मनमें जैसे 'आत्मा है' यह अविद्या छाई थी, उस अविद्याका कारण समझाते हुए बुद्धने कहा—

"सभी आहारोंका निदान (=कारण) है तृष्णा ...उसका निदान वेदना....उसका निदान स्पर्श....उसका निदान छै आयतन(=पाँचो इन्द्रियाँ और मन).. उसका निदान नाम और रूप...उसका निदान विज्ञान. . उसका निदान संस्कार....उसका निदान अविद्या।"

अविद्या फिर अपने चक्रको १२ अंगोंमें दुहराती है, इसे ही द्वादशांग प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं—

१. अविद्या ← १२. जरामरण
↓ ↑
२. संस्कार ११. जाति (=जन्म)
↓ ↑
३. विज्ञान १०. भव (=आवागमन)
↓ ↑
४ नाम-रूप (=ग्रहण या ग्रहण करनेकी इच्छा) ९. उपादान
↓ ↑
५ छ आयतन (=इन्द्रियाँ) ८. तृष्णा
↓ ↑
६. स्पर्श → ७. वेदना

तृष्णाकी उत्पत्तिकी कथा कहते हुए बुद्धने वहीं कहा है—

" 'भिक्षुओ ! तीनके एकत्रित होनेसे गर्भधारण होता है।... (१) माता-पिता एकत्रित होते हैं, (२) माता ऋतुमती होती है, (३) गंधर्व उपस्थित होता है।....तब माता गर्भको....नौ या दस मासके बाद जनती है।....उसको ...माता अपने लोहित....दूधसे पोसती है। तब वह बच्चा (कुछ) बड़ा होनेपर... बच्चोंके खिलौने—वंका, घड़िया, मुंहके लट्टू, चिंगुलिया, तराजू, गाडी, धनुही—से खेलता है।.... (और) बड़ा होनेपर.. .पाँच प्रकारके विषय-भोगों—(रूप, शब्द, रस, गंध, स्पर्श)—का सेवन करता है। . वह (उनकी अनुकूलता, प्रति-

कूलता आदिके अनुसार) अनुरोध (=राग), विरोधमें पड़ा सुखमय, दुःखमय, न सुख-न दुःखमय वेदनाको अनुभव करता है, उसका अभिनन्दन करता है। (इस प्रकार) अभिनन्दन करते उसे नन्दी (=तृष्णा) उत्पन्न होती है। वेदनाओंके विषयमें जो यह नन्दी (=तृष्णा है, (यही) उसका उपादान (=ग्रहण करना या ग्रहण करनेकी इच्छा) है।' '

(३) **अनात्मवाद**—बुद्धके पहिले उपनिषद्के ऋषियोंको हम आत्माके दर्शनका जबर्दस्त प्रचार करते देखते हैं। साथ ही उस समय चार्वाककी तरहके भौतिकवादी दार्शनिक भी थे, यह भी बतला चुके हैं। नित्यतावादियोंके आत्मा-संबंधी विचारोंको बुद्धने दो भागोंमें बांटा है,[1] एक वह जिसमें आत्माको रूपी (इन्द्रिय-गोचर माना जाता है) दूसरेमें उसे अ-रूपी माना गया है। फिर इन दोनों विचारवालोंमें कुछ आत्माको अनन्त मानते हैं और कुछ सान्त (=परिम या अणु)। फिर ये दोनों विचारवाले नित्यवादी और अनित्यवादी दो भागोंमें बँटे हैं—

[1] महानिदान-सुत्त, दी० नि०, २।१५ ("बुद्धचर्या", पृ० १३१, ३२)
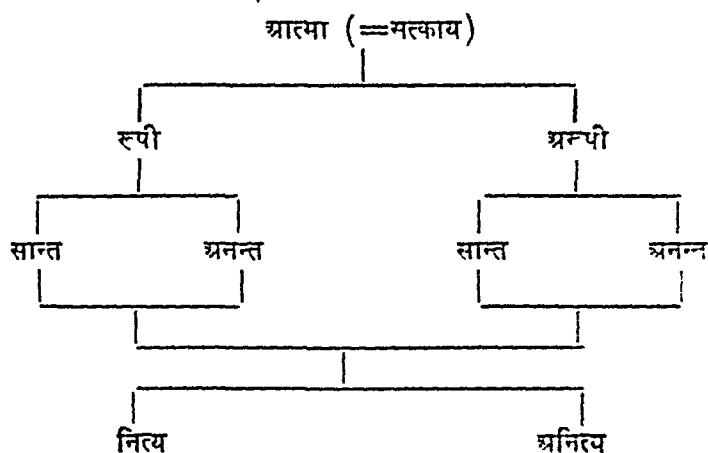
आत्मवादकेलिए बुद्धने एक दूसरा शब्द सत्काय-दृष्टि भी व्यवहृत किया है। सत्कायका अर्थ है, कायामें विद्यमान (=कायासे भिन्न अजर अमर तत्त्व)। अभी साति केवट्टपुत्तके विज्ञान (=जीव) के आवागमनकी बात करनेपर बुद्धने उसे कितना फटकारा और अपनी स्थितिको स्पष्ट किया यह बतला चुके है। सत्काय (=आत्मा) की धारणाको बुद्ध दर्शन-संबंधी एक भारी बन्धन (=दृष्टि-सयोजन) मानते थे, और सच्चे ज्ञानकी प्राप्तिकेलिए उसके नष्ट होनेकी सबसे ज्यादा जरूरत समझते थे। बुद्धकी शिष्या पडिता धम्मदिन्नाने अपने एक उपदेशमें[1] पाँच उपादान (=ग्रहण करनेकी इच्छासे युक्त)-स्कन्धोंको सत्काय बतलाया है, और आवागमनकी तृष्णाको सत्काय-दृष्टिका कारण।

बुद्ध अविद्या और तृष्णासे मनुष्यकी सारी प्रवृत्तियोंकी व्याख्या करते है। हम लिख आये है, कि कैसे जर्मन दार्शनिक शोपेन्हारने बुद्धकी इसी सर्वशक्तिमती तृष्णाका बहुत व्यापक क्षेत्रमें प्रयोग किया।

लेकिन बुद्ध सत्काय-दृष्टि या आत्मवादकी धारणाको नैसर्गिक नही मानते थे, इसीलिए उन्होने कहा है—[2]

"उतान (ही) सो सकनेवाले (दुधमुँहे) अबोध छोटे बच्चेको सत्काय (=आत्मवाद) का भी (पता) नही होता, फिर कहाँसे उसे सत्काय-दृष्टि उत्पन्न होगी?"

—यहाँ मिलाइए भेड़ियेकी माँदसे निकाली गई लड़की कमलासे, जिसने चार वर्षमें ३० शब्द सीखे।[3]

उपनिषद्के इतने परिश्रमसे स्थापित किए आत्माके महान् सिद्धान्तको प्रतीत्यसमुत्पादवादी बुद्ध कितनी तुच्छ दृष्टिसे देखते थे?—[4]

---

[1] चूलवेदल्ल-सुत्त, म० नि०, १।५।४ (अनुवाद, पृ० १७९)

[2] महामालुंक्य-सुत्त, म० नि०, २।२।४ (अनुवाद, पृ० २५४)

[3] "वैज्ञानिक भौतिकवाद।" पृष्ठ ९९-१००

[4] मज्झिम-नि०, १।१।२—"अयं भिक्खवे! केवलो परिपूरो बाल-धम्मो।"

" 'जो यह मेरा आत्मा अनुभव कर्ता, अनुभवका विषय है, और जहाँ-तहाँ (अपने) भले बुरे कर्मोंके विषयको अनुभव करता है, वह मेरा आत्मा नित्य=ध्रुव=शाश्वत=अपरिवर्तनशील है, अनन्त वर्षों तक वैसा ही रहेगा'—यह भिक्षुओ! केवल भरपूर बाल-धर्म (=मूर्ख-विश्वास) है।"

अपने दर्शनमें अनात्मासे बुद्धको अभावात्मक वस्तु अभिप्रेत नहीं है। उपनिषद्में आत्माको ही नित्य, ध्रुव, वस्तु सत्य माना जाता था। बुद्धने उसे निम्न प्रकारसे उत्तर दिया—

(उपनिषद्)—आत्मा=नित्य, ध्रुव=वस्तुसत्

(बुद्ध)—अन्-आत्मा=अ-नित्य, अ-ध्रुव=वस्तुसत्

इसीलिए वह एक जगह कहते हैं—

"रूप अनात्मा है; वेदना अनात्मा है, संज्ञा . संस्कार . विज्ञान . . .सारे धर्म अनात्मा हैं।"[1]

बुद्धने प्रतीत्य-समुत्पादके जिस महान् और व्यापक सिद्धान्तका आविष्कार किया था, उसके व्यक्त करनेकेलिए उस वक्त अभी भाषा भी तैयार नहीं हुई थी, इसलिए अपने विचारोंको प्रकट करनेके वास्ते जहाँ उन्हें प्रतीत्य-समुत्पाद, सत्काय जैसे कितने ही नये शब्द गढ़ने पड़े, वहाँ कितने ही पुराने शब्दोंको उन्होंने अपने नये अर्थोंमें प्रयुक्त किया। उपरोक्त उद्धरणमें धर्मको उन्होंने अपने खास अर्थमें प्रयुक्त किया है, जो कि आजके साइंसकी भाषामें वस्तुकी जगह प्रयुक्त होनेवाला घटना शब्दका पर्यायवाची है। 'ये धर्मा हेतु-प्रभवा.' (=जो धर्म हैं वह हेतुसे उत्पन्न हैं)—यहाँ भी धर्म विच्छिन्न-प्रवाहवाले विश्वके क्षण-स्थायी अवयवको बतलाता है।

(४) अ-भौतिकवाद—आत्मवादके बुद्ध जबर्दस्त विरोधी थे सही; किन्तु, इससे यह अर्थ नहीं लेना चाहिए, कि वह भौतिक(=जड़)वादी थे। बुद्धके समय कोसलदेशकी सालविका नगरीमें लौहित्य नामक एक ब्राह्मण

[1] चूलसच्चक-सुत्त, म० नि०, १।४।५ (अनु०, पृ० १३८)

सामन्त रहता था। धर्मोके बारेमे उसकी बहुत बुरी सम्मति थी[1]—

ससारमे (कोई ऐसा) श्रमण (=सन्यासी) या ब्राह्मण नही है, जो अच्छे धर्मको....जानकर....दूसरेको समझावेगा। भला दूसरा दूसरे-केलिए क्या करेगा ? (नये नये धर्म क्या है), जैसे कि एक पुराने बधनको काटकर एक दूसरे नये बधनका डालना। इसी प्रकार मै इसे पाप (=बुराई) और लोभकी बात समझता हूँ।"

बुद्धने अपने शील-समाधि-प्रज्ञा सबंधी उपदेश द्वारा उसे समझानेकी कोशिश की थी।

कोसलदेशमें ही एक दूसरा सामन्त—सेतव्याका स्वामी पायासी राजन्य था। उसका मत था[2]—

"यह भी नही है, परलोक भी नही है, जीव मरनेके बाद (फिर) नही पैदा होते, और अच्छे बुरे कर्मोका कोई भी फल नही होता।"

पायासी क्यों परलोक और पुनर्जन्मको नही मानता था, इसकेलिए उसकी तीन दलीले थी, जिन्हें कि बुद्धके शिष्य कुमार काश्यपके सामने उसने पेश की थी—(१) किसी मरेने लौटकर नही कहा, कि दूसरा लोक है; (२) धर्मात्मा आस्तिक—जिन्हें स्वर्ग मिलना निश्चित है—भी मरनेसे अनिच्छुक होते है; (३) जीवके निकल जानेसे मृत शरीरका न वजन कम होता है; और सावधानीसे मारनेपर भी जीवको कहींसे निकलते नहीं देखा जाता।

बुद्ध समझते थे, कि भौतिकवाद उनके ब्रह्मचर्य और समाधिका भी वैसा ही विरोधी है, जैसा कि वह आत्मवादका विरोधी है। इसीलिए उन्होने कहा[3]—

" 'वही जीव है वही शरीर है', (दोनो एक है) ऐसा मत होनेपर

---

[1] दीघ-निकाय, १।१२ (अनुवाद, पृ० ८२)

[2] दीघ-नि०, २।१० (अनु०, पृ० १९९)

[3] अंगुत्तर-नि०, ३

ब्रह्मचर्यवास नही हो सकता। 'जीव दूसरा है शरीर दूसरा है' ऐसा मत (=दृष्टि) होनेपर भी ब्रह्मचर्यवास नही हो सकता।"

आदमी ब्रह्मचर्यवास (=साधुका जीवन) तब करता है, जब कि उस जीवनके बाद भी उसे फल पाने या काम पूरा करनेका अवसर मिलनेवाला हो। भौतिकवादीके वास्ते इसीलिए ब्रह्मचर्यवास व्यर्थ है। शरीर और जीवको भिन्न-भिन्न माननेवाले आत्मवादीकेलिए भी ब्रह्मचर्यवास व्यर्थ है; क्योकि नित्य-ध्रुव आत्मामे ब्रह्मचर्य द्वारा सशोधन सवर्द्धनकी गुजाइश नही। इस तरह बुद्धने अपनेको अभौतिकवादी अनात्मवादीकी स्थितिमे रक्खा।

(५) **अनीश्वरवाद**—बुद्धके दर्शनका जो रूप—अनित्य, अनात्म, प्रतीत्य-समुत्पाद—हम देख चुके है, उसमे ईश्वर या ब्रह्मकी भी उसी तरह गुजाइश नही है जैसे कि आत्माकी। यह सच है कि बुद्धने ईश्वर-वादपर उतने ही अधिक व्याख्यान नही दिये है, जितने कि अनात्मवादपर। इससे कुछ भारतीय—साधारण ही नही लब्धप्रतिष्ठ पश्चिमी ढगके प्रोफेसर—भी यह कहते है, कि बुद्धने चुप रहकर इस तरहके बहुतसे उपनिपद्के सिद्धान्तोकी पूर्ण स्वीकृति दे दी है।

ईश्वरका ख्याल जहाँ आता है, उससे विश्वके स्रष्टा, भर्ता, हर्ता एव नित्यचेतन व्यक्तिका अर्थ लिया जाता है। बुद्धके प्रतीत्य-समुत्पादमे ऐसे ईश्वरकी गुजाइश तभी हो सकती है, जब कि सारे "धर्मों"की भाँति वह भी प्रतीत्य-समुत्पन्न हो। प्रतीत्य-समुत्पन्न होनेपर वह ईश्वर ही नही रहेगा। उपनिपद्मे हम विश्वका एक कर्त्ता पाते है—

"प्रजापतिने प्रजाकी इच्छासे तप किया। . . .उसने तप करके जोड़े पैदा किये।"[1]

"ब्रह्म. . . .ने कामना की।. . .तप करके उसने इन सब (=विश्व)को पैदा किया। . . ."[2]

---

[1] प्रश्नोपनिषद्, १।३-१३　　　[2] तैत्तिरीय, २।६

"आत्मा ही पहिले अकेला था।....उसने चाहा—'लोकोको सिरजूँ।' उसने इन लोकोंको सिरजा।"[1]

अब इस सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, आत्मा, ईश्वर, सत्....की बुद्ध क्या गति बनाते है, इसे सुन लीजिए। मल्लोके एक प्रजातत्रकी राजधानी अनूपिया[2]मे बुद्ध भार्गव-गोत्र परिव्राजकसे इस बातपर वार्तालाप कर रहे है।[3]—

"भार्गव! जो श्रमण-ब्राह्मण, ईश्वर (=इस्सर) या ब्रह्माके कर्त्तापनके मत (=आचार्यक)को श्रेष्ठ बतलाते है, उनके पास जाकर मै यह पूछता हूँ—'क्या सचमुच आपलोग ईश्वर....के कर्त्तापनको श्रेष्ठ बतलाते है'? मेरे ऐसा पूछनेपर वे 'हाँ' कहते है। उनसे मै (फिर) पूछता हूँ—'आपलोग कैसे ईश्वर या ब्रह्माके कर्त्तापनको श्रेष्ठ बतलाते है?' मेरे ऐसा पूछनेपर....वे मुझसे ही पूछने लगते है।....मै उनको उत्तर देता हूँ—'....बहुत दिनोके बीतनेपर....इस लोकका प्रलय होता है।....(फिर) बहुत काल बीतनेपर इस लोककी उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति होनेपर शून्य ब्रह्म-विमान (=ब्रह्माका उडता फिरता घर) प्रकट होता है। तब (आभास्वर देवलोकका) कोई प्राणी आयुके क्षीण होनेसे या पुण्यके क्षीण होनेसे....उस शून्य ब्रह्म-विमानमें उत्पन्न होता है।....वह वहाँ बहुत दिनो तक रहता है। बहुत दिनो तक अकेला रहनेके कारण उसका जी ऊब जाता है, और उसे भय मालूम होने लगता है।[4]—'अहो दूसरे प्राणी भी यहाँ आवें।'....

---

[1] ऐतरेय, १।१ [2] छपरा जिलामें कहीं पर, अनोमा नदीके पास था।

[3] पाथिकसुत्त, दी-नि०, ३।१ (अनुवाद, पृ० २२३)

[4] बुद्धका यहाँ ब्रह्माके अकेले डरनेसे बृहदारण्यकके इस वाक्य (१।४।१-२)की ओर इशारा है।—"आत्मा ही पहले था।....उसने नजर दौड़ाकर अपनेसे दूसरेको नहीं देखा।....वह भय खाने लगा। इसीलिए (आदमी) अकेला भय खाता है।....उसने दूसरे (के होने)की इच्छा की....।"

दूसरे प्राणी भी आयुके क्षय होनेसे. . . .शून्य ब्रह्म-विमानमें उत्पन्न होते हैं।. . . .जो प्राणी वहाँ पहिले उत्पन्न होता है, उनके मनमें होता है—'मैं ब्रह्मा, महा ब्रह्मा, विजेता, अ-विजित, सर्वज्ञ, वशवर्ती, ईश्वर, कर्त्ता निर्माता, श्रेष्ठ, स्वामी और भूत तथा भविष्यके प्राणियोंका पिता हूँ। मैंने ही इन प्राणियोंको उत्पन्न किया है।. . (क्योंकि) मेरे ही मनमें यह पहिले हुआ था—'दूसरे भी प्राणी यहाँ आवें।' अत. मेरे ही मनसे उत्पन्न होकर ये प्राणी यहाँ आये हैं। और जो प्राणी पीछे उत्पन्न हुए, उनके मनमें भी उत्पन्न होता है 'यह ब्रह्मा. . .ईश्वर . .कर्त्ता . . है। . .सो क्यों? (इसलिए कि) हम लोगोंने इसको पहिलेहीसे यहाँ विद्यमान पाया, हम लोग (तो) पीछे उत्पन्न हुए।' . . .दूसरा प्राणी जब उस (देव-)कायाको छोडकर इस (लोक)में आते हैं।. . (जब इनमेंसे कोई) समाधिको प्राप्तकर उससे पूर्वजन्मका स्मरण करता है, उसके आगे नहीं स्मरण करता है। वह कहता है—'जो वह ब्रह्मा . . . .ईश्वर. . .कर्ता . है, वह नित्य=ध्रुव है, शाश्वत, निर्विकार और सदाकेलिए वैसा ही रहनेवाला है। और जो हम लोग उस ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न किये गये हैं (वह) अनित्य, अ-ध्रुव, अल्पायु, मरणशील हैं।' इस प्रकार (ही तो) आप लोग ईश्वरका कर्त्तापन. . . बतलाते हैं? वह . . . .कहते हैं—'. . . .जैसा आयुष्मान गौतम बतलाते हैं, वैसा ही हम लोगोंने (भी) सुना है।"

उस वक्तकी—परंपरा, चमत्कार, शब्दकी अंधेरगर्दी प्रमाणसे ईश्वरका यह एक ऐसा बेहतरीन खंडन था, जिसमें एक बड़ा बारीक मजाक भी शामिल है।

सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा (=ईश्वर)का बुद्धने एक जगह और सूक्ष्म परिहास किया है।[1]—

. . . .बहुत पहिले. . . .एक भिक्षुके मनमें यह प्रश्न हुआ—'ये चार

---

[1] केवट्टसुत्त (दीघ-निकाय, १।११; अनुवाद, पृ० ७९-८०)

महाभूत—पृथिवी-धातु, जल-धातु, तेज-धातु, वायु-धातु—कहाँ जाकर बिलकुल निरुद्ध हो जाते हैं ?'....उसने... चातुर्महाराजिक देवताओं (के पास) जाकर....(पूछा)....। चातुर्महाराजिक देवताओंने उस भिक्षुसे कहा—'....हम भी नहीं जानते....हमसे बढ़कर चार महाराजा[1] हैं। वे शायद इसे जानते हों. ..।'

"....'हमसे भी बढकर त्रायस्त्रिंश... याम....सुयाम.... तुषित (देवगण)....सतुषितदेवपुत्र....निर्माणरति (देवगण).... सुनिर्मित (देवपुत्र)....परनिर्मितवशवर्त्ती (देवगण).....वशवर्त्ती नामक देवपुत्र.. .ब्रह्मकायिक नामक देवता हैं, वह शायद इसे जानते हों'।....ब्रह्मकायिक देवताओंने उस भिक्षुसे कहा—'हमसे भी बहुत बढ चढकर ब्रह्मा हैं,... वह....ईश्वर, कर्त्ता, निर्माता ...और सभी पैदा हुए और होनेवालोंके पिता हैं, शायद वह जानते हों।'.... (भिक्षुके पूछनेपर उन्होंने कहा—) 'हम नहीं जानते कि ब्रह्मा (= ईश्वर) कहाँ रहते हैं।'. ..इसके बाद शीघ्र ही महाब्रह्मा (= महान् ईश्वर) भी प्रकट हुआ। ...(भिक्षुने) महाब्रह्मासे पूछा—'.... ये चार महाभूत....कहाँ जाकर बिलकुल निरुद्ध (= विलुप्त) हो जाते हैं ?'....महाब्रह्माने कहा—'....मैं ब्रह्मा... ईश्वर....पिता हूँ।'....दूसरी बार भी... महाब्रह्मासे पूछा—'....मैं तुमसे यह नहीं पूछता, कि तुम ब्रह्मा....ईश्वर.. .पिता. .हो।.... मैं तो तुमसे यह पूछता हूँ—ये चार महाभूत....कहाँ. बिलकुल निरुद्ध हो जाते हैं ?'....तीसरी बार भी. ..पूछा—तब महा-ब्रह्माने उस भिक्षुकी बाँह पकड़, (देवताओंकी सभासे) एक ओर ले जाकर ....कहा—'हे भिक्षु, ये देवता....मुझे ऐसा समझते हैं कि.... (मेरे लिए) कुछ अज्ञात...अ-दृष्ट नहीं है...इसीलिए मैंने उन लोगोंके सामने नहीं बतलाया। भिक्षु ! मैं भी नहीं जानता....यह तुम्हारा

---

[1] धृतराष्ट्र, विरूढक, विरूपाक्ष, वैश्रवण (= कुबेर)

ही दोष है .. कि तुम. . (बुद्ध)को छोड़ अन्यमें इस बातकी खोज करते हो।.. .उन्हींके... पास जाओ, . जैसा .. (वह) कहे, वैसा ही समझो।' "

स्मरण रखना चाहिए कि आज हिन्दूधर्ममें ईश्वरसे जो अर्थ लिया जाता है, वही अर्थ उस समय ब्रह्मा शब्द देता था। अभी शिव और विष्णुको ब्रह्मासे ऊपर नहीं उठाया गया था। बुद्धकी इस परिहासपूर्ण कहानीका मजा तब आयेगा, यदि आप यहाँ ब्रह्माकी जगह अल्लाह या भगवान्, बुद्धकी जगह मार्क्स और भिक्षुकी जगह किसी नास्तिकपने मार्क्स-अनुयायीको रखकर इसे दुहरायें। हजारों अ-विश्वसनीय चीजोंपर विश्वास करनेवाले अपने समयके अन्ध श्रद्धालुओंको बुद्ध बतलाना चाहते थे, कि तुम्हारा ईश्वर नित्य, ध्रुव वगैरह नहीं है, न वह सृष्टिको बनाता बिगाड़ता है, वह भी दूसरे प्राणियोंकी भाँति जन्मने-मरनेवाला है। वह ऐसे अनगिनत देवताओंमें सिर्फ एक देवतामात्र है। बुद्धके ईश्वर (=ब्रह्मा) के पीछे "लाठी" लेकर पड़नेका एक और उदाहरण लीजिए। अबकी बुद्ध स्वयं जाकर "ईश्वर"को फटकारते हैं[1]—

"एक समय .. बक ब्रह्माको ऐसी बुरी धारणा हुई थी—'यह (ब्रह्मलोक) नित्य, ध्रुव, शाश्वत, शुद्ध, अ-च्युत, अज, अजर, अमर है न च्युत होता है, न उपजता है। इससे आगे दूसरा निस्सरण (पहुँचनेका स्थान) नहीं है।'[2] . तब मैं ब्रह्मलोकमें प्रकट हुआ। बक ब्रह्माने दूरसे ही मुझे आते देखा। देखकर मुझसे कहा—'आओ मार्ष! (मित्र!) स्वागत मार्ष! चिरकालके बाद मार्ष! (आपका) यहाँ आना हुआ। मार्ष! यह (ब्रह्मलोक) नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अजर अमर ... है . ।' , ऐसा कहनेपर मैंने कहा—'अविद्यामें पड़ा

---

[1] ब्रह्मनिमन्तिक-सुत्त (म० नि०, १।५।६; अनुवाद०, पृ० १९४-५)

[2] याज्ञवल्क्यने गार्गीको ब्रह्मलोकसे आगेके प्रश्नको सिर गिरनेका डर दिखलाकर रोक दिया था। (बृहदारण्यक ३।६)

है, अहो ! वक ब्रह्मा, अविद्यामें पडा है, अहो ! वक ब्रह्मा, जो कि अनित्यको नित्य कहता है, अशाश्वतको शाश्वत. . . . ।'. . . .ऐसा कहने पर. . . .वक ब्रह्माने .कहा—'मार्ष ! मै नित्यको ही नित्य कहता हूँ. . . .।'. . . .मैंने कहा—. . . .'. . . ब्रह्मा ! . . .(दूसरे लोकसे) च्युत होकर तू यहाँ उत्पन्न हुआ ।'. . . ।"

ब्राह्मण अन्धेके पीछे चलनेवाले अन्धोकी भाँति विना जाने देखे ईश्वर (ब्रह्मा) और उसके लोकपर विश्वास रखते है, इस भावको समझाते हुए एक जगह और बुद्धने कहा है[1]—

वाशिष्ट ब्राह्मणने बुद्धसे कहा—'हे गौतम ! मार्ग-अमार्गके संवधमे ऐतरेय ब्राह्मण, छन्दोग ब्राह्मण छन्दावा ब्राह्मण,. . . .नाना मार्ग वतलाते है, तो भी वह ब्रह्माकी सलोकताको पहुँचाते है । जैसे. . . .ग्राम या कस्बेके पास वहुतसे, नाना मार्ग होते है, तो भी वे सभी ग्राममे ही जानेवाले होते है ।'. . . .

'वाशिष्ट ! . . . त्रैविद्य ब्राह्मणोमें एक ब्राह्मण भी नही, जिसने ब्रह्माको अपनी आँखसे देखा हो. . . .एक आचार्य. . . .एक आचार्य-प्राचार्य. . . सातवी पीढी तकका आचार्य भी नही ।. . .ब्राह्मणोके पूर्वज, ऋषि[2] मन्त्रोंके कर्त्ता, मन्त्रोके प्रवक्ता . . अष्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरा, भरद्वाज, वशिष्ट, कश्यप, भृगु—मे क्या कोई है,

---

[1] तेविज्ज-सुत्त (दी० नि० १।१३, अनुवाद, पृ० ८७-९)

[2] ऋग्वेदके ऋषियोंमें वामकका नाम नहीं है, अंगिराकाभी अपना मंत्र नहीं है, किंतु अंगिराके गोत्रियोके ५७से ऊपर सूक्त है। (ऋक् १।३५।३६; ६।१५; ८।५७-५८, ६४, ७४, ७६, ७८-७९, ८१-८५, ८७, ८८; ९।४, ३०, ३५-३६, ३९-४०, ४४-४६, ५०-५२, ६१, ६७, (२२-३२), ६९, ७२, ७३, ८३, ९४, ९७, (४५-५८), १०८ (८-११), ११२; १०।४२-४४, ४७, ६७-६८, ७१, ७२, ८२, १०७, १२८, १६४, १७२-७४ वाकी आठ ऋषियोंके वनाए ऋग्-मंत्र इस प्रकार है—

....जिसने ब्रह्माको अपनी आँखोंसे देखा हो।... 'जिनको न जानते हैं, न देखते हैं उसकी सलोकताकेलिए मार्ग उपदेश करते हैं।' ....वाशिष्ट ! (यह तो वैसे ही हुआ), जैसे अन्धोंकी पाँति एक

	सूक्त संख्या	पता
१. अष्टक (विश्वामित्र-पुत्र)	१	१०।१०४
२. वामक	०	
३. वामदेव (वृहदुक्थ, मूर्धन्वा, अहोमुचके पिता)	५५	४।१-४१, ४५-५८
४. विश्वामित्र (कुशिक-पुत्र)	४६	३।१-१२, २४, २६, २७-३०, ३२-५३, ५७-६२; ९।६७ (१३-१५); ९।१०१ (१३-१६)
५. जमदग्नि (भार्गव)	४	८।६०; ९।६२, ६५, ६७ (१६-१८)
६. अंगिरा	०	०
७. भरद्वाज (बृहस्पति-पुत्र)	६०	६।१-१४, १६-३०, ३७-४३, ५३-७४; ९।६७ (१-३)
८. वशिष्ट (मित्रावरुण-पुत्र)	१०५	७।१-१०४; ९।६७ (१६-२१), ९०, ९७ (१-३)
९. कश्यप (मरीचि-पुत्र)	७	१।६६; ९।६४, ६७ (४-६), ९१-९२, ११३-१४
१०. भृगु (वरुण-पुत्र)	१	९।६५

दूसरेसे जुड़ी हो, पहिलेवाला भी नहीं देखता, बीचवाला भी नही देखता, पीछेवाला भी नही देखता।...."

(६) **दश अकथनीय**—वुद्धने कुछ वातोको अकथनीय (=अव्याकृत) कहा है, कितने ही वौद्धिक वेईमानीकेलिए उतारु भारतीय लेखक उसीका सहारा लेकर यह कहना चाहते है, कि वुद्ध ईश्वर, आत्माके वारेमें चुप थे। इसलिए चुप्पीका मतलव यह नही लेना चाहिए, कि वुद्ध उनके अस्तित्वसे इन्कार करते है। लेकिन वह इस वातको छिपाना चाहते हैं, कि वुद्धकी अव्याकृत वातोकी सूची खुली हुई नही है, कि उसमे जितनी चाहें उतनी वातें आप दर्ज करते जायें। वुद्धके अव्याकृतोकी सूचीमे सिर्फ दस वाते है, जो लोक (=दुनिया), जीव-शरीरके भेद-अभेद तथा मुक्त-पुरुषकी गतिके वारेमें है[1]—

क. लोक	१. क्या लोक नित्य है?	अ-व्याकृत (=अ-कथनीय, चुप)
	२. क्या लोक अनित्य है?	
	३. क्या लोक अन्तवान् है?	
	४. क्या लोक अनन्त है?	
ख. जीव-शरीरकी एकता	५. क्या जीव और शरीर एक है?	
	६. क्या जीव दूसरा शरीर दूसरा है?	
ग निर्वाणके वाद-की अवस्था	७. क्या मरनेके वाद तथागत (-मुक्त) होते है?	
	८. क्या मरनेके वाद तथागत नही होते?	
	९. क्या मरनेके वाद तथागत होते भी है, नहीं भी होते है?	
	१०. क्या मरनेके वाद तथागत न होते है, न नही होते है?	

मालुंक्यपुत्तने वुद्धसे इन दश अव्याकृत वातोंके वारेमे प्रश्न किया था।[1]—

---

[1] म०नि०, २।२।३ (अनुवाद, पृ० २५१)

"यदि भगवान् (इन्हे) जानते है,....तो बतलायें,.. नही जानते हो, ...तो न जानने-समझनेवालेकेलिए यही सीधी (बात) है, कि वह (साफ कह दे)—मै नही जानता, मुझे नही मालूम।..."

बुद्धने इसका उत्तर देते हुए कहा—

"...मैने इन्हे अव्याकृत (इसलिए).. (कहा) है; (क्योकि) ....यह (=इनके बारेमे कहना) सार्थक नही, भिक्षु-चर्या (=आदि ब्रह्मचर्य)केलिए उपयोगी नही (और)न यह निर्वेद=वैराग्य, निरोध=शान्ति....परम-ज्ञान, निर्वाणकेलिए (आवश्यक) है; इसीलिए मैने उन्हे अव्याकृत किया।"

(सर राधाकृष्णन्‌की लीपापोती—) बुद्धके दर्शनमे इस प्रकार ईश्वर, आत्मा, ब्रह्म—किसी भी नित्य ध्रुव पदार्थकी गुंजाइश न रहनेपर भी, उपनिषद् और ब्राह्मणके तत्त्वज्ञान—सत्-चित्-आनन्द—से बिलकुल उल्टे तत्त्वो अ-सत् (=अनित्य, प्रतीत्य समुत्पन्न)-अ-चित् (=अनात्म)-अन्-आनन्द (=दुःख)—अनित्य-दुःख-अनात्म—की घोषणा करनेपर भी यदि सर राधाकृष्णन् जैसे हिन्दू लेखक गैरजिम्मेवारीके साथ निम्न वाक्योको लिखनेकी धृष्टता करते है, तो इसे धर्मकीर्तिके शब्दोमे "धिग् व्यापक तम" ही कहना पड़ेगा।—

(क) "उस (=बुद्ध)ने ध्यान और प्रार्थना (के रास्ते)को पकड़ा।"[1] किसकी प्रार्थना?

(ख) "बुद्धका मत था कि सिर्फ विज्ञान (=चेतना) ही क्षणिक है, और चीजे नही।"[2]

आपने 'सारे धर्म प्रतीत्य समुत्पन्न है', इसकी खूब व्याख्या की?

(ग) "बुद्धने जो ब्रह्मके बारेमे साफ हां या नही कहा, इसे "किसी तरह भी परम सत्ता (=ब्रह्म)से इन्कारके अर्थमे नही लिया जा सकता।

---

[1] Indian Philosophy by Sir S. Radhakrishnan, vol I. (1st edition), P. 355 [2] वही, P. 378

यह समझना असम्भव है, कि बुद्धने दुनियाके इस वहावमे किसी वस्तुको ध्रुव (=नित्य) नही स्वीकार किया; सारे विश्वमे हो रही अ-शान्तिमे (उन्होने) कोई ऐसा विश्राम-स्थान नही (माना), जहाँ कि मनुष्यका अशान्त हृदय शान्ति पा सके।"[1]

इसकेलिए सर राधाकृष्णन्ने बौद्ध निर्वाणको 'परमसत्ता' मनवानेकी चेष्टा की है, किन्तु बौद्ध निर्वाणको अभावात्मक छोड भावात्मक वस्तु माना ही नही जा सकता। बुद्ध जब शान्तिके प्राप्तिकर्त्ता आत्माको भारी मूर्खता (=वालधर्म)मानते है, तो उसके विश्रामकेलिए शान्तिका ठाँव राधाकृष्णन् ही ढूँढ सकते है! फिर आपने तो इस वचनको वही उद्धृत भी किया है—"यह निरन्तर प्रवाह या घटना है, जिसमे कुछ भी नित्य नही। यहाँ (=विश्वमे) कोई चीज नित्य (=स्थिर) नही—न नाम (=विज्ञान) ही और न रूप (=भौतिकतत्त्व) ही।"[2]

(घ) "आत्माके वारेमे बुद्धके चुप रहनेका दूसरा ही कारण था" ....[3]बुद्ध उपनिषद्मे वर्णित आत्माके वारेमें चुप हैं—वह न उसे स्वीकार ही करते है, न इन्कार ही।"[4]

नही जनाव! बुद्धके दर्शनका नाम ही अनात्मवाद है। उपनिषद्के नित्य, ध्रुव आत्माके साथ यहाँ 'अन्' लगाया गया है। "अनित्य दुःख अनात्म"की घोषणा करनेवालेकेलिए आपके ये उद्गार सिर्फ यही सावित करते है, कि आप दर्शनके इतिहास लिखनेकेलिए विलकुल अयोग्य है।

आगे यह और दुहराते है—

'विना इस अन्तर्हित तत्त्वके जीवनकी व्याख्या नही की जा सकती। इसीलिए बुद्ध वरावर आत्माकी सत्यताके निषेधसे इन्कार करते थे।"[5]

---

[1] वही, पृष्ठ ३७९ [2] It is a Perpetual Process with nothing permanent. Nothing here is permanent, neither name nor form—महावग्ग (विनय-पिटक) VI.35. ff.
[3] वहीं, पृष्ठ ३८५ [4] वहीं, पृष्ठ ३८७ [5] वहीं, पृष्ठ ३८९

इसे कहते हैं—"मुखमस्तीति वक्तव्य दशहस्ता हरीतकी।" और बुद्धके सामने जानेपर राधाकृष्णन्की क्या गति होती, इसकेलिए मालुक्य-पुत्तकी घटनाको पढ़िए।[1]

(ङ) मिलिन्द-प्रश्नके रचयिता नागसेन (१५० ई० पू०)ने बुद्धके दर्शनकी व्याख्या जिस सरलताके साथ यवनराजा मिनान्दरके सामने की, उसके बारेमें सर राधाकृष्णन्का कहना है—

"नागसेनने बौद्ध(=बुद्धके)विचारको उसकी पैतृक नाना(=उप-निषद्?)से तोड़कर शुद्ध बौद्धिक(=बुद्धिगत) क्षेत्रमें रोप दिया।"[2]

और—

"बुद्धका लक्ष्य(=मिशन) था, कि उपनिषद्के श्रेष्ठ विज्ञानवाद (Idealism) को स्वीकार कर उसे मानव जातिके दिन-प्रतिदिनकी आवश्यकताकेलिए सुलभ बनाये। ऐतिहासिक बौद्ध धर्मका अर्थ है, उपनिषद्के सिद्धान्तका जनतामें प्रसार।"[3]

स्वयं बुद्ध उनके समकालीन शिष्य, नागसेन (१५० ई० पू०), नागा-र्जुन (१७५ ई०), असंग (३७५ ई०), वसुबन्धु (४०० ई०), दिग्नाग (४२५ ई०), धर्मकीर्ति (६००), धर्मोत्तर, शान्तरक्षित (८५० ई०), ज्ञानश्री, शाक्यश्रीभद्र (१२०० ई०) जिस रहस्यको न जान पाये थे, उसे खोज निकालनेका श्रेय सर राधाकृष्णन्को है, जिन्होंने अनात्मवादी बुद्धको उपनिषद्के आत्मवादका प्रचारक सिद्ध कर दिया। २५०० वर्षों तथा भारत, लंका, बर्मा, स्याम, चीन, जापान, कोरिया, मंगोलिया, तिब्बत, मध्य-एसिया, अफगानिस्तान और दूसरे देशों तक फैले भूभागपर कितना भारी भ्रम फैला हुआ था जो कि वह बुद्धको अनात्मवादी अनी-श्वरवादी समझते रहे! और अक्षपाद, बादरायण, वात्स्यायन, उद्योतकर, कुमारिल, वाचस्पति, उदयन जैसे ब्राह्मणोंने भी बुद्धके दर्शनको जिस तरहका समझा वह भी उनकी भारी "अविद्या" थी!

---

[1] वहीं, पृष्ठ २८९ [2] वहीं, पृ० ३६० [3] वहीं, पृष्ठ ४०१

(७) **विचार-स्वातंत्र्य**—प्रतीत्य-समुत्पादके आविष्कर्त्ताके लिए विचार-स्वातन्त्र्य स्वाभाविक चीज थी। बौद्ध दार्शनिकोने अपने प्रवर्त्तकके आदेशके अनुसार ही प्रत्यक्ष और अनुमान दोके अतिरिक्त तीसरे प्रमाण-को माननेसे इन्कार कर दिया। बुद्धने विचार-स्वातन्त्र्यको अपने ही उपदेशोसे इस प्रकार शुरू किया था[1]—

"भिक्षुओ ! मै वेडे (=कुल्ल) की भाँति पार जानेकेलिए तुम्हे धर्मका उपदेश करता हूँ, पकड़ रखनेकेलिए नही।. .जैसे भिक्षुओ ! पुरुष ....ऐसे महान् जल-अर्णवको प्राप्त हो, जिसका उरला तीर खतरे और भयसे पूर्ण हो और परला तीर क्षेमयुक्त तथा भयरहित हो। वहाँ न पार ले जानेवाली नाव हो, न इधरसे उधर जानेकेलिए पुल हो।.... तब वह....तृण-काष्ठ-पत्र जमाकर वेडा बाँधे और उस वेडेके सहारे हाथ और पैरसे मेहनत करते स्वस्तिपूर्वक पार उतर जाये।....उतर जानेपर उसके (मनमे) हो—'यह वेडा मेरा बडा उपकारी हुआ है, इसके सहारे....मै पार उतर सका, क्यो न मै ऐसे वेड़ेको शिरपर रख कर, या कन्धेपर उठाकर....ले चलूँ।'....तो क्या.. .ऐसा करने-वाला पुरुष उस वेडेके प्रति (अपना) कर्त्तव्य पालन करनेवाला होगा ?' ....नही....। 'भिक्षुओ ! वह पुरुष उस वेडेमे दुःख उठानेवाला होगा।' "

एक बार बुद्धसे केशपुत्र ग्रामके कालामोने नाना मतवादोके सच-झूठमे सन्देह प्रकट करते हुए पूछा था[2]—

"भन्ते ! कोई-कोई श्रमण (=साधु) ब्राह्मण केशपुत्रमे आते है, अपने ही वाद (=मत) को प्रकाशित.. करते है, दूसरेके वादपर नाराज होते है, निन्दा करते है। . .दूसरे भी.. .अपने ही वादको प्रकाशित... करते....दूसरेके वादपर नाराज होते है।

---

[1] म० नि०, १।३।२ (अनुवाद, पृष्ठ ८६-८७)

[2] अंगुत्तर-निकाय, ३।७।५

तब....हमे सन्देह. .होता है—कौन इन ...में सच कहता है, कौन झूठ ?'

"कालामो ! तुम्हारा सन्देह....ठीक है, सन्देहके स्थानमे ही तुम्हें सन्देह उत्पन्न हुआ है। कालामो ! मत तुम श्रुत (=सुने वचनों, वेदो)के कारण (किसी बातको मानो), मत तर्कके कारणसे, मत नय-हेतुसे, मत (वक्ताके) आकारके विचारसे, मत अपने चिर-विचारित मतके अनुकूल होनेसे, मत (वक्ताके) भव्यरूप होनेसे, मत 'श्रमण हमारा गुरु है' से। जब कालामो ! तुम खुद ही जानो कि ये धर्म (=काम या बात) अच्छे, अदोष, विज्ञोंसे अनिन्दित है यह लेने, ग्रहण करनेपर हित, सुखके लिए होते हैं, तो कालामो ! तुम उन्हे स्वीकार करो।"

(८) **सर्वज्ञता गलत**—बुद्धके समकालीन वर्धमानको सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहा जाता था, जिसका प्रभाव पीछे बुद्धके अनुयायियोपर भी पड़े बिना नही रहा। तो भी बुद्ध स्वयं सर्वज्ञताके ख्यालके विरुद्ध थे।

वत्सगोत्रने पूछा[1]—"सुना है भन्ते ! 'श्रमण गौतम सर्वज्ञ सर्वदर्शी है .. '—(क्या ऐसा कहनेवाले) . यथार्थ कहनेवाले है ? भगवान्की असत्य . से निन्दा तो नही करते ?"

"वत्स ! जो कोई मुझे ऐसा कहते है. ., वह मेरे बारेमे यथार्थ कहनेवाले नही है। वह असत्यसे . मेरी निन्दा करते है।"

और अन्यत्र[2]—

"ऐसा श्रमण ब्राह्मण नही है जो एक ही बार सब जानेगा, सब देखेगा (सर्वज्ञ सर्वदर्शी होगा)।"

(९) **निर्वाण**—निर्वाणका अर्थ है बुझना—दीप या आगका जलते-जलते बुझ जाना। प्रतीत्यसमुत्पन्न (विच्छिन्न प्रवाह रूपसे उत्पन्न) नाम-रूप (=विज्ञान और भौतिकतत्त्व) तृष्णाके मारेसे मिलकर जो एक जीवन-प्रवाहका रूप धारण कर प्रवाहित हो रहे है, उस प्रवाहका

---

[1] म० नि०, २।३।१ [2] म० नि०, २।४।१० (अनुवाद, पृष्ठ ३६९)

अत्यन्त विच्छेद ही निर्वाण है[1]। पुराने तेल-वत्ती या ईंधनके जल चुकने तथा नयेकी आमदनी न होनेसे जैसे दीपक या अग्नि बुझ जाते हैं, उसी तरह आस्रवों=चित्तमलो, (काम-भोगो, पुनर्जन्म और नित्य आत्माके नित्यत्व आदिकी दृष्टियो)के क्षीण होनेपर यह आवागमन नष्ट हो जाता है। निर्वाण बुझना है, यह उसका शब्दार्थ ही बतलाता है। बुद्धने अपने इस विशेष शब्दको इसी भावके द्योतनकेलिए चुना था। किन्तु साथ ही उन्होने यह कहनेसे इन्कार कर दिया कि निर्वाण-गत पुरुष(=तथागत)का मरनेके बाद क्या होता है। अनात्मवादी दर्शनमें उसका क्या हो सकता है, यह तो आसानीसे समझा जा सकता है; किन्तु वह ख्याल "बालानां त्रासजनकम्" (=अज्ञोको भयभीत करनेवाला) है, इसलिए बुद्धने उसे स्पष्ट नही कहना चाहा[1]। उदानके इस वाक्यको लेकर कुछ लोग निर्वाणको एक भावात्मक ब्रह्मलोक जैसा बनाना चाहते है।[2]—

"हे भिक्षुओ ! अ-जात, अ-भूत, अ-कृत=अ-सस्कृत।" किन्तु यह, निषेधात्मक विशेषणसे किसी भावात्मक निर्वाणको सिद्ध तभी कर सकते थे, जब कि उसके 'आनन्द'का भोगनेवाला कोई नित्य ध्रुव आत्मा होता। बुद्धने निर्वाण उस अवस्थाको कहा है, जहाँ तृष्णा क्षीण हो गई, आस्रव=चित्तमल (=भोग, जन्मान्तर और विशेष मतवादकी तृष्णाएं हैं) जहाँ नहीं रह जाते। इससे अधिक कहना बुद्धके अ-व्याकृत प्रतिज्ञाकी अवहेलना करनी होगी।[3]

४–बुद्धका दर्शन और तत्कालीन समाज-व्यवस्था

दर्शन दिमागकी चीज है, फिर हाड़-मासके समूहोवाले समाजका उसपर क्या बस है ? वह केवल मनकी ऊँची उड़ान, मनोमय जगत्की

---

[1] इतिवुत्तक, २।२।६ [2] उदान, ८।३

[3] उदान, ८।२—"दुद्दसं अनत्तं नाम न हि सच्चं सुदस्सनं।
पटिविद्धा तण्हा जानतो पस्सतो नत्थि किञ्चन॥"

उपज है, इसलिए उसे उसी तलपर देखना चाहिए। दर्शनके संबंधमें इस तरहके विचार पूरब और पश्चिम दोनोंमें देखे जाते हैं। उनके ख्यालमें दर्शन भौतिक विश्वसे बिलकुल अलग चीज है। लेकिन हमने यूनानी-दर्शनमें भी देखा है, कि दर्शन मनकी चीज होते हुए भी "तीन लोकमें मथुरा न्यारी"वाली चीज नहीं रहा। खुद मन भौतिक उपज है। याज्ञवल्क्यके गुरु उद्दालक आरुणिने भी साफ स्वीकार किया था कि "मन अन्नमय है।. . .खाये हुए अन्नका जो सूक्ष्मांश ऊपर जाता है, वही मन है।"[1] हम खुद अन्यत्र[2] बतला आये हैं, कि हमारे मनके विकासमें हमारे हाथों—हाथके श्रम, सामाजिक और वैयक्तिक दोनों—का सबसे भारी हिस्सा है। मनुष्यकी भाँति मनुष्यका मन भी अपने निर्माणमें समाजका बहुत ऋणी है। ऐसी स्थितिमें मनकी उपज दर्शनकी भी व्याख्या समाजसे दूर जाकर कैसे की जा सकती है? इसलिए सजीव आँखकी असलियतको जैसे शरीरसे अलग निकालकर देखनेसे नहीं मालूम हो सकती, उसी तरह दर्शनके समझनेमें भी हमें उसे उसके जन्म, और कार्यकी परिस्थितिमें देखना होगा।

उपनिषद्को हम देख चुके हैं, समाजकी स्थितिको धारण करने (=रोकने)वाले धर्म (वैदिक कर्मकांड और पाठ-पूजा)की ओरसे आस्था उठते देख पहिले शासक वर्गको चिन्ता हुई और क्षत्रियों—राजाओं—ने ब्रह्मज्ञान तथा पुनर्जन्मके दर्शनको पैदाकर मुक्तिको पकाने तथा सामाजिक विषमताको उचित ठहरानेकी चेष्टा की। द्वन्द्वात्मक रीतिसे विश्लेषण करनेपर हम देखेंगे—(१)

वाद—यज्ञ, वैदिक कर्मकांड, पाठ-पूजा श्रेयका रास्ता है।

प्रतिवाद—यज्ञ रूपी घरनई पार होनेकेलिए बहुत कमजोर है।

संवाद—ब्रह्मज्ञान श्रेयका रास्ता है, जिससे कर्म व्यापार होता है।

बुद्धका दर्शन—(२)

---

[1] छान्दोग्य-उपनिषद्, ६।६।१–५ [2] "मानव-समाज" पृ० ४–६

वाद (उपनिषद्)—आत्मवाद।

प्रतिवाद (चार्वाक)—आत्मा नही भौतिकवाद।

संवाद (बुद्ध)—अभौतिक अनात्मवाद।

यह तो हुई विचार-शृंखला। समाजमे वैदिक धर्म स्थिति-स्थापक था, और वह सम्पत्तिवाले वर्गकी रक्षा और श्रमिक—दास, कर्मकर—वर्गपर अकुश रखनेके लिए, खूनी हाथोसे जनताको कुचलकर स्थापित हुए राज्य (=शासन)की मदद करना चाहा था। इसका पारितोषिक था धार्मिक नेताओ (=पुरोहितो)का शोषणमे और भागीदार बनाया जाना। शोषित जनता अपने स्वतत्र—वर्गहीन, आर्थिक दासता-विहीन—दिनोको भूलसी चुकी थी, धर्मके प्रपचमें पड़कर वह अपनी वर्त्तमान परिस्थितिको "देवताओका न्याय" समझ रही थी। शोषित जनताको वास्तविक न्याय करवानेके लिए तैयार करनेके वास्ते जरूरी था, कि उसे धर्मके प्रपचसे मुक्त किया जाये। यह प्रयोजन था, नास्तिकवाद (=देव-परलोकसे इन्कारी)—भौतिकवादका। ब्राह्मण (पुरोहित) अपनी दक्षिणा समेटनेमे मस्त थे, उन्हें भुसके ढेरमें सुलगती इस छोटीसी चिंगारीकी पर्वाह न थी। सदियोसे आये कर्म-धर्मको वह वर्गशोषणका साधन नही बल्कि साध्य समझने लगे थे, इसलिए भी वह परिवर्त्तनके इच्छुक न थे। क्षत्रिय (=शासक) ठोस दुनिया और उसके चलने-फिरनेवाले, समझनेकी क्षमता रखनेवाले शोषित मानवोकी प्रकृति और क्षमताको ज्यादा समझते थे। उन्होने खतरेका अनुभव किया, और धर्मके फंदेको दृढ करनेकेलिए ब्रह्मवाद और पुनर्जन्मको उसमे जोड़ा। शुरूमें पुरोहितवर्ग इससे कितना नाराज हुआ होगा, इसकी प्रतिध्वनि हमे जैमिनि और कुमारिलके मीमांसा-दर्शनमे मिलेगी; जिन्होने कि ब्रह्म (=पुरुष) ब्रह्मज्ञान सबसे इन्कार कर दिया—वेद अपौरुषेय है, उसे किसीने नही बनाया है। वह प्रकृतिकी भाँति स्वयंभू है। वेदका विधान कर्मफल, परलोककी गारंटी है। वेद सिर्फ कर्मोका विधान करते है, इन्ही विधान-वाक्योके समर्थनमे अर्थवाद (=स्तुति, निन्दा, प्रशसा)के तौरपर बाकी सहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्का

सारा वक्तव्य है। तो भी जो प्रहार हो चुका था, उससे वैदिक धर्मसंस्थाको बचाया नहीं जा सकता था। कौटिल्यके अर्थशास्त्रसे पता लगता है, कि लोकायत (=भौतिक-नास्तिक)-वाद शासकोंमें भी भीतर ही भीतर बहुत प्रिय था। किन्तु दूसरी ही दृष्टिसे वह समयके अनुसार, सिर्फ अपने स्थायी स्वार्थोंका ख्याल रखते हुए सामाजिक—धार्मिक—रूढ़ियोंको बदलनेकी स्वतंत्रता चाहते थे। लोगोंके धार्मिक मिथ्याविश्वासोंसे फायदा उठाकर, शासकोंको दैवी चमत्कारो द्वारा राज्यकोष और बल बढ़ानेकी वहाँ साफ सलाह दी गई है। "दशकुमारचरित"के समय (ई० छठी सदीमें तो राज्यके गुप्तचर धार्मिक "निर्दोष वेष"को बेखटके इस्तेमाल करते थे, और इस तरीकेका इस्तेमाल चाणक्य और उसके पहिलेके शासक भी निस्संकोच करते थे, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन, शासकवर्ग भौतिकवादको अपने प्रयोजनकेलिए इस्तेमाल करता था—सिर्फ, "ऋण कृत्वा घृत पिबेत्" (=ऋण करके घी पीने)के नीच उद्देश्य थे। वहीं भौतिकवाद जब शोषित-श्रमितवर्गकेलिए इस्तेमाल होता, तो उसका उद्देश्य वैयक्तिक स्वार्थ नहीं होता था। अब अपने श्रमका फल स्वयं भोगनेकी मांग पेश करता—शोषणको बन्द करना चाहता था।

बुद्धका दर्शन अपने मौलिक रूप—प्रतीत्य-समुत्पाद (=क्षणिकवाद)—में भारी क्रान्तिकारी था। जगत्, समाज, मनुष्य सभीको उसने क्षण-क्षण परिवर्त्तनशील घोषित किया, और कभी न लौटनेवाले "ते हि नो दिवसा गता" (=वे हमारे दिवस चले गये)की पर्वाह छोड़कर परिवर्त्तनके अनुसार अपने व्यवहार, अपने समाजके परिवर्त्तनकेलिए हर वक्त तैयार रहनेकी शिक्षा देता था। बुद्धने अपने बड़े-से-बड़े दार्शनिक विचार ("धर्म")को भी बेड़ेके समान सिर्फ उससे फायदा उठानेकेलिए कहा था, और उसे समयके बाद भी ढोनेकी निन्दा की थी। तो भी इस क्रान्तिकारी दर्शनने अपने भीतरसे उन तत्त्वों (धर्म)को हटाया नहीं था, जो "समाजकी प्रगतिको रोकने"का काम देते हैं। पुनर्जन्मको यद्यपि बुद्धने नित्य आत्माका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें आवागमनके

रूपमें माननेसे इन्कार किया था, तो भी दूसरे रूपमें परलोक और पुनर्जन्म-को माना था। जैसे इस शरीरमें 'जीवन' विच्छिन्न प्रवाह (नष्ट—उत्पत्ति—नष्ट—उत्पत्ति)के रूपमें एक तरहकी एकता स्थापित किये हुए है, उसी तरह वह शरीरान्तमें भी जारी रहेगा। पुनर्जन्मके दार्श-निक पहलूको और मजबूत करते हुए बुद्धने पुनर्जन्मका पुनर्जन्म प्रति-सन्धिके रूपमे किया—अर्थात् नाश और उत्पत्तिकी सधि (=शृखला)से जुड़कर जैसे जीवन-प्रवाह इस शरीरमें चल रहा है, उसी तरह उसकी प्रतिसधि (=जुड़ना) एक शरीरसे अगले शरीरमें होती है। अविकारी ठोस आत्मामें पहिलेके संस्कारोको रखनेका स्थान नही था, किन्तु क्षण-परिवर्त्तनशील तरल विज्ञान (=जीवन)में उसके वासना या सस्कारके रूपमें अपना अग वनकर चलनेमे कोई दिक्कत न थी। क्षणिकता सृष्टि-की व्याख्याकेलिए पर्याप्त थी, किन्तु ईश्वरका काम संसारमें व्यवस्था, समाजमें व्यवस्था (=शोपितको विद्रोहसे रोकनेकी चेष्टा)—कायम रखना भी है। इसकेलिए बुद्धने कर्मके सिद्धान्तको और मजबूत किया। आवागमन, धनी-निर्धनका भेद उसी कर्मके कारण है, जिसके कर्त्ता कभी तुम खुद थे, यद्यपि आज वह कर्म तुम्हारे लिए हाथसे निकला तीर है।

इस प्रकार बुद्धके प्रतीत्य-समुत्पादको देखनेपर जहाँ तत्काल प्रभु-वर्ग भयभीत हो उठता, वहाँ, प्रतिसधि और कर्मका सिद्धान्त उन्हें विलकुल निश्चित कर देता था। यही वजह थी, जो कि बुद्धके झंडेके नीचे हम वडे-वड़े राजाओ, सम्राटों, सेठ-साहूकारोको आते देखते हैं, और भारतसे वाहर—लंका, चीन, जापान, तिब्बतमे तो उनके धर्मको फैलानेमें राजा सवसे पहिले आगे वढे।—वह समझते थे, कि यह धर्म सामाजिक विद्रोहके लिए नही वल्कि सामाजिक स्थितिको स्थापित रखनेकेलिए वहुत सहायक सावित होगा। जातियो, देशोकी सीमाओको तोडकर बुद्धके विचारोंने राज्य-विस्तार करनेमे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपेण भारी मदद की। समाजमें आर्थिक विपमताको अक्षुण्ण रखते ही बुद्धने वर्ण-व्यवस्था, जातीय ऊँच-नीचके भावको हटाना चाहा था, जिसने वास्तविक विपमता तो

नहीं टूटी, किन्तु निम्न वर्गका सद्भाव जरूर बौद्ध धर्मकी ओर बढ़ गया। वर्ग-दृष्टिसे देखनेपर बौद्धधर्म शासकवर्गके एजंटकी मध्यस्थता जैसा था, वर्गके मौलिक स्वार्थको बिना हटाये वह अपनेको न्याय-पक्षपाती दिखलाना चाहता था।

सिद्धार्थ गौतम अपने दर्शनके रूपमे सोचनेकेलिए क्यों मजबूर हुए? इसकेलिए उनके चारों ओरकी भौतिक परिस्थिति कहाँ तक कारण बनी? यह प्रश्न उठ सकते हैं। किन्तु हमें ख्याल रखना चाहिए कि व्यक्तिपर भौतिक परिस्थितिका प्रभाव समाजके एक आवश्यक रूपमें जो पड़ता है, कभी-कभी वही व्यक्तिकी विशेष दिशामें प्रतिक्रियाकेलिए पर्याप्त है; और कभी-कभी व्यक्तिकी अपनी वैयक्तिक भौतिक परिस्थिति भी दिशा-परिवर्तनमें सहायक होती है। पहिली दृष्टिसे बुद्धके दर्शनपर हम अभी विचार कर चुके हैं। बुद्धकी वैयक्तिक भौतिक परिस्थितिका उनके दर्शनपर क्या कोई प्रभाव पड़ा है, जरा इसपर भी विचार करना चाहिए। बुद्ध शरीरसे बहुत स्वस्थ थे। मानसिक तौरसे वह शान्त, गम्भीर, तीक्ष्ण प्रतिभाशाली विचारक थे। महत्वाकांक्षाएँ उनकी उतनी ही थीं, जितनी कि एक काफी योग्यता रखनेवाले आत्म-विश्वासी व्यक्तिको होनी चाहिए। वह अपने दार्शनिक विचारोंकी सच्चाईपर पूरा विश्वास रखते थे, प्रतीत्यसमुत्पादके महत्त्वको अच्छी प्रकार समझते थे, साथ ही पहिले-पहिल उन्हें अपने विचारोंको फैलानेकी उत्सुकता न थी, क्योंकि वह तत्कालीन विचार-प्रवृत्तिको देखकर आशापूर्ण न थे। शायद अभी तक उन्हें यह पता न था, कि उनके विचारों और उस समयके प्रभुवर्गकी प्रवृत्तिमें समझौतेकी गुंजाइश है।

बुद्धके दर्शनका अनित्य,—अनात्मके अतिरिक्त दुःखवाद भी एक स्वरूप है। इस दुःखवादका कारण यदि उस समयके समाज तथा बुद्धकी अपनी परिस्थितिमें ढूँढ़ें, तो यही मालूम होता है, कि उन्हें बचपनमें ही मातृवियोग सहना पड़ा था, किन्तु उनकी मौसी प्रजापतीका स्नेह सिद्धार्थकेलिए कम न था। इससे उनको किसी प्रकारका कष्ट

हुआ हो, इसका पता नही लगता। एक धनिकपुत्रकेलिए जो भोग चाहिए, वह उन्हे सुलभ थे। किन्तु समाजमें होती घटनाएँ तेजीसे उनपर प्रभाव डालती थी। वृद्ध, वीमार और मृतके दर्शनसे मनमे वैराग्य होना इसी वातको सिद्ध करता है। दुःखकी सच्चाईको हृदयंगम करनेकेलिए यही तीन दर्शन नही थे, इससे वढकर मानवकी दासता और दरिद्रताने उन्हें दुःखकी सच्चाईको सावित करनेमे मदद दी होगी; यद्यपि इसका जिक्र हमें नहीं मिलता। इसका कारण स्पष्ट है—वुद्धने दरिद्रता और दासताको उठाना अपने प्रोग्रामका अंग नहीं वनाया था। आरम्भिक दिनोमें, जान पडता है, दरिद्रता-दासताकी भीषणताको कुछ हलका करनेकी प्रवृत्ति वौद्धसंघमें थी। कर्ज देनेवाले उस समय सम्पत्ति न होने-पर शरीर तक खरीद लेनेका अधिकार रखते थे, इसलिए कितने ही कर्ज-दार त्राण पानेकेलिए भिक्षु वन जाते थे। लेकिन जव महाजनोंके विरोधी हो जानेका खतरा सामने आया, तो वुद्धने घोषित किया[1]—

"ऋणीको प्रव्रज्या (=संन्यास) नहीं देनी चाहिए।"

इसी तरह दासोंके भिक्षु वननेसे अपने स्वार्थपर हमला होते देख दास-स्वामियोने जव हल्ला किया तो घोषित किया[2]—

"भिक्षुओ! दासको प्रव्रज्या नही देनी चाहिए।"

वुद्धके अनुयायी मगधराज विंविसारके सैनिक जव युद्धमें जानेकी जगह भिक्षु वनने लगे तो, सेनानायक और राजा वहुत घवराये, आखिर राज्यका अस्तित्व अन्तमे सैनिक-शक्तिपर ही तो निर्भर है। विंविसारने जव पूछा कि, राजसैनिकको साधु वनानेवाला किस दंडका भागी होता है, तो अधिकारियोने उत्तर दिया[3]—

"देव! उस (=गुरु)का शिर काटना चाहिए, अनुशासक (=भिक्षु

---

[1] महावग्ग, १।३।४।८ (मेरा "विनयपिटक", हिन्दी, पृष्ठ ११८)

[2] वहीं १।३।४।९ (मेरा "विनयपिटक", पृ० ११८)

[3] वहीं, १।३।४।२ (वहीं, पृ० ११६-११७)

बनाते वक्त विधिवाक्योंको पढ़नेवाले)की जीभ निकालनी चाहिए, और गण (=संघ)की पसली तोड़ देनी चाहिए।"

राजा बिंबिसारने जाकर बुद्धके पास इसकी शिकायत की, तो बुद्धने घोषित किया—

"भिक्षुओ! राजसैनिकोंको प्रव्रज्या नहीं देनी चाहिए।"[1]

इस तरह दुःख सत्यके साक्षात्कारसे दुःख-हेतुओंको संसारसे दूर करनेका जो सवाल था, वह तो खतम हो गया, अब उसका सिर्फ आध्यात्मिक मूल्य रह गया था, और वैसा होते ही सम्पत्तिवाले वर्गकेलिए बुद्धका दर्शन विषदन्तहीन सर्प-सा हो जाता है।

सब देखनेपर हम यही कह सकते हैं, कि तत्कालीन दासता और दरिद्रता बुद्धको दुःसमस्य समझनेमें साधक हुए। दुःख दूर किया जा सकता है, इसे समझते हुए बुद्ध प्रतीत्यसमुत्पादपर पहुँचे—क्षणिक तथा "हेतुप्रभव" होनेसे उसका अन्त हो सकता है। संसारमें साफ दिखाई देनेवाले दुःखकारणोंको हटानेमें असमर्थ समझ उन्होंने उसकी अलौकिक व्याख्या कर डाली।

[1] वहीं

तृतीत अध्याय

नागसेन (१५० ई० पू०)

१—सामाजिक परिस्थिति

बुद्धके जन्मसे कुछ पहिले हीसे उत्तरी भारतके सामन्तोने राज्य-विस्तारकेलिए युद्ध छेडने शुरू किये थे—दो-तीन पीढी पहिले ही कोसल-ने काशी-जनपदको हडप कर लिया था। बुद्धके समयमे ही बिंबिसारने अगको भी मगधमे मिला लिया और उस समय विंध्यमें होती मगधकी सीमा अवन्ती (उज्जैन)के राज्यसे मिलती थी। वत्स (=कौशाम्बी, इलाहाबाद)का राज भी उस वक्तके सभ्य भारतके बडे शासकोमे था। कोसल, मगध, वत्स, अवन्तीके अतिरिक्त लिच्छवियो (वैशाली)का प्रजा-तंत्र पाँचवी महान् शक्ति थी। आर्य प्रदेशोको विजय करते एक-एक जन (=कबीले)के रूपमें बसे थे। आर्योकी यह नई बस्तियाँ पहिलेसे बसे लोगो और स्वय दूसरे आर्य जनोंके खूनी संघर्षोके साथ मजबूत हुई थी। कितनी ही सदियो तक राजतत्र या प्रजातत्रके रूपमे यह जन चले आये। उपनिषद्कालमे भी यह जन दिखाई पड़ते है, यद्यपि जनतंत्रके रूपमे नही बल्कि अधिकतर सामन्ततंत्रके रूपमे। बुद्धके समय जनोकी सीमाबंदियाँ टूट रही थी, और काशि-कोसल, अग-मगधकी भाँति अनेक जनपद मिलकर एक राज्य बन रहे थे। व्यापारी वर्गने व्यापारिक क्षेत्रमे इन सीमाओको तोडना शुरू किया। एक नही अनेक राज्योसे व्यापारिक सबधके कारण उनका स्वार्थ उन्हे मजबूर कर रहा था, कि वह छोटे-छोटे स्वतत्र जन-पदोंकी जगह एक बडा राज्य कायम होनेमे मदद करें। मगधके धनजय सेठ (विशाखाके पिता)को साकेत(=अयोध्या)मे बड़ी कोठी कायम करने

हम अन्यत्र[1] देख चुके है। जिस वक्त व्यापारी अपने व्यापार द्वारा, राजा अपनी सेना द्वारा जनपदोंकी सीमा तोड़नेमें लगे हुए थे, उस वक्त कोई भी दर्शन या धार्मिक विचार उसमें सहायता देने, उनका अधिक प्रचार होना जरूरी था। बौद्ध धर्मने इस कामको सफलताके साथ किया, चाहे जान-बूझकर थैली और राजके हाथमें बिककर ऐसा न भी हुआ हो।

बुद्धके निर्वाणके तीन वर्ष बाद (४८० ई० पू०) अजातशत्रु (मगध)ने लिच्छवि प्रजातंत्रको खतम कर दिया, और अपने समयमें ही उसने अपने राज्यकी सीमा कोसीसे यमुना तक पहुँचा दी, उत्तर दक्खिनमें उसकी सीमा विंध्य और हिमालय थे। जनपदों, जातियों, वर्णोंकी सीमाओंको न माननेवाली बुद्धकी शिक्षा, यद्यपि इस बातमें अपने समकालीन दूसरे छै तीर्थंकरोंके समान ही थी, किन्तु उनके साथ उनके दार्शनिक विचार बुद्धिवादियोंको ज्यादा आकर्षक मालूम होते थे—पिछले दार्शनिक प्रवाहका चरम रूप होनेसे उसे श्रेष्ठ होना ही चाहिए था। उस समयके प्रतिभाशाली ब्राह्मणों और क्षत्रिय विचारकोंका भारी भाग बुद्धके दर्शनसे प्रभावित था। उन आदर्शवादी भिक्षुओंका त्याग और सादा जीवन भी कम आकर्षक न था। इस प्रकार बुद्धके समय और उनके बाद बौद्धधर्म युग-धर्म—जनपद-ध्वंसीकरण—मे सबसे अधिक सहायक बना। बिंबिसारके वंशके बाद नन्दोंका राज्यवंश आया, उसने अपनी सीमाको और बढ़ाया, और पश्चिममें पंजाब तक पहुँच गया। पिछले राजवंशके बौद्ध होनेके कारण उसके उत्तराधिकारी नंदवंशका धार्मिक तौरसे बौद्धसंघके साथ उतना घनिष्ठ संबंध चाहे न भी रहा हो, किन्तु राज्यके भीतर जबर्दस्ती शामिल किये जाते जनपदोंमें जनपदके व्यक्तित्वके भावको हटाकर एकताका जो काम बौद्ध कर रहे थे, उसके महत्त्वको वह भी नहीं भूल सकते थे—मगधके दैनिक जीवनमें उनका धर्म बहुत अधिक जनप्रिय हो चुका था, और उसका राजधर्म भी हो ही चुका था। इस प्रकार मगध-राज्यके शासन और प्रजाके

---

[1] "मानवसमाज" पृष्ठ १३६-३८

विस्तारके साथ उसके बौद्धधर्मके विस्तारका होना ही था। नन्दोंके अन्तिम समयमे सिकन्दरका पजावपर हमला हुआ, यद्यपि यूनानियोका उस वक्तका शासन बिलकुल अ-स्थायी था, तो भी उसके कारण भारतमे यूनानी सिपाही व्यापारी, शिल्पी लाखोकी सख्यामे वसने लगे थे। इन अभिमानी "म्लेच्छ" जातियोको भारतीय बनानेमें सबसे आगे बढे थे बौद्ध। यवन मिनान्दर और शक कनिष्क जैसे प्रतापी राजाओका बौद्ध होना आकस्मिक घटना नही है, बल्कि वह यह बतलाता है कि जनपद और जनपद, आर्य और म्लेच्छके बीचके भेदको मिटानेमें बौद्धधर्मने खूब हाथ बँटाया था।

२—यूनानी और भारतीय दर्शनोंका समागम

यूनानी भारतीयोकी भाँति उस वक्तकी एक बडी सभ्य जाति थी। दर्शन, कला, व्यापार, राजनीति, सभीमें वह भारतीयोसे पीछे तो क्या मूर्तिकला, नाटचकला जैसी कुछ बातोमें तो भारतीयोसे आगे थे। दर्शनके निम्न सिद्धान्तोको उनके दार्शनिक आविष्कृत कर चुके थे, और इन्हें पिछले वक्तके भारतीयोने बिना ऋण कबूल किये अपने दर्शनका अग बना लिया।

वाद	दार्शनिक	समय ई० पू०
आकृतिवाद	पिथागोर	५७०-५००
क्षणिकवाद	हेराक्लितु	५३५-४७५
बीजवाद	अनखागोर	५००-४२८
परमाणुवाद	देमोक्रितु	४६०-३७०
विज्ञान (=आकृति)	अफलातूँ	४२७-३४७
विशेष	"	
सामान्य (=जाति)	"	
मूल स्वरूप	"	
सृष्टिकर्त्ता	"	

उपादान कारण		
निमित्त कारण	अरस्तू	३८४-३२२
तर्कशास्त्र	"	
द्रव्य	"	
गुण	"	
कर्म	अरस्तू	
दिशा	"	
काल	"	
परिमाण	"	
आसन	,	
स्थिति	"	

इस दर्शनका भारतीय दर्शनपर क्या प्रभाव पड़ा, यह अगले पृष्ठोंसे मालूम होगा। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना है, कि हेराक्लितु, अफलातूं, अरस्तू दर्शनोंको जाननेवाले अनेक यवन भारतमें रह गये थे, और वे बुद्धके दर्शनके महत्त्वको अच्छी तरह समझ सकते थे।

यह है समय जब कि यवन-शासित पंजाबमें नागसेन पैदा होते हैं।

३—नागसेनकी जीवनी

नागसेनके जीवनके बारेमें "मिलिन्द प्रश्न"[1]में जो कुछ मिलता है, उससे इतना ही मालूम होता है, कि हिमालय-पर्वतके पास (पंजाब)में कजंगल गाँवमें सोनुत्तर ब्राह्मणके घरमें उनका जन्म हुआ था। पिताके घरमें ही रहते उन्होंने ब्राह्मणोंकी विद्या वेद, व्याकरण आदिको पढ़ लिया था। उसके बाद उनका परिचय उस वक्त वत्तनीय(=वर्त्तनीय) स्थानमें रहनेवाले एक विद्वान् भिक्षु रोहणसे हुआ, जिसने नागसेन बौद्ध-विचारोंकी ओर

[1] 'मिलिन्द-प्रश्न', अनुवादक भिक्षु जगदीश काश्यप, १९३७ ई०।

झुके। रोहणके शिष्य बन वह उनके साथ विजम्भवस्तु[1] (=विजृम्भवस्तु) होते हिमालयमे रक्षिततल नामक स्थानमे गये। वही गुरुने उन्हें उस समयकी रीतिके अनुसार कठस्थ किये सारे बौद्ध वाङ्मयको पढाया। और पढनेकी इच्छासे गुरुकी आज्ञाके अनुसार वह एक वार फिर पैदल चलते वर्त्तनीयमे एक प्रख्यात विद्वान् अश्वगुप्तके पास पहुँचे। अश्वगुप्त अभी इस नये विद्यार्थीकी विद्या-बुद्धिकी परख कर ही रहे थे, कि एक दिन किसी गृहस्थके घर भोजनके उपरान्त कायदेके अनुसार दिया जानेवाला धर्मोपदेश नागसेनके जिम्मे पडा। नागसेनकी प्रतिभा उससे खुल गई और अश्वगुप्तने इस प्रतिभाशाली तरुणको और योग्य हाथोमे सौंपनेकेलिए पटना (=पाटलिपुत्र)के अशोकाराम विहारमें वास करनेवाले आचार्य धर्मरक्षितके पास भेज दिया। सौ योजनपर अवस्थित पटना पैदल जाना आसान काम न था, किन्तु अब भिक्षु बराबर आते-जाते रहते थे, व्यापारियोका सार्थ (=कारवाँ) भी एक-न-एक चलता ही रहता था। नागसेनको एक ऐसा ही कारवाँ मिल गया जिसके स्वामीने बडी खुशीसे इस तरुण विद्वान्को खिलाते-पिलाते साथ ले चलना स्वीकार किया।

अशोकाराममे आचार्य धर्मरक्षितके पास रहकर उन्होने बौद्ध तत्त्वज्ञान और पिटकका पूर्णतया अध्ययन किया। इसी बीच उन्हे पंजाबसे बुलौवा आया, और वह एक बार फिर रक्षिततलपर पहुँचे।

मिनान्दर (=मिलिन्द)का राज्य यमुनासे आमू (वक्षु) दरिया तक फैला हुआ था। यद्यपि उसकी एक राजधानी बलख (बाह्लीक) भी थी, किन्तु हमारी इस परपराके अनुसार मालूम होता है, मुख्य राजधानी सागल (=स्यालकोट) नगरी थी। प्लूतार्कने लिखा है कि—मिनान्दर बड़ा न्यायी, विद्वान् और जनप्रिय राजा था। उसकी मृत्युके बाद उसकी हड्डियोंकेलिए लोगोमें लडाई छिड़ गई। लोगोने उसकी हड्डियोपर बडे-

---

[1] वर्त्तनीय, कजंगल और शायद विजृम्भवस्तु भी स्यालकोटके जिलेमें थे।

वडे स्तूप वनवाये। मिनान्दरको शास्त्रचर्चा और वहसकी वडी आदत थी, और सावारण पडित उसके सामने नही टिक सकते थे। भिक्षुओंने कहा—'नागसेन! राजा मिलिन्द वादविवादमें प्रश्न पूछकर भिक्षु-सघको तग करता और नीचा दिखाता है, जाओ तुम उस राजाका दमन करो।"

नागसेन, सघके आदेशको स्वीकार कर सागल नगरके असंखेय्य नामक **परिवेण** (=मठ)में पहुँचे। कुछ ही समय पहिले वहाँके वड़े पडित आयु-पालको मिनान्दरने चुप कर दिया था। नागसेनके आनेकी खवर शहरमे फैल गई। मिनान्दरने अपने एक अमात्य देवमत्री (=जो शायद यूनानी दिमित्री है)से नागसेनसे मिलनेकी इच्छा प्रकट की। स्वीकृति मिलनेपर एक दिन "पाँच सौ यवनोके साथ अच्छे रथपर सवार हो वह असखेय्य परिवेणमें गया। राजाने नमस्कार और अभिनदनके वाद प्रश्न शुरू किये।" इन्ही प्रश्नोके कारण इस ग्रथका नाम "मिलिन्द-प्रश्न" पडा। यद्यपि उपलभ्य पाली "मिलिन्द पञ्ह"में छ परिच्छेद है, किन्तु उनमेंसे पहिलेके तीन ही पुराने मालूम होते हैं, चीनी भाषामें भी इन्ही तीन परिच्छेदोका अनुवाद मिलता है। मिनान्दरने पहिले दिन मठमें जाकर नागसेनसे प्रश्न किये, दूसरे दिन उसने महलमें निमन्त्रण कर प्रश्न पूछे।

४—दार्शनिक विचार

अपने उत्तरमे नागसेनने वुद्धके दर्शनके अनात्मवाद, कर्म या पुनर्जन्म, नाम-रूप (=मन और भौतिक तत्त्व), निर्वाण आदिको ज्यादा विशद् करनेका प्रयत्न किया है।

(१) **अनात्मवाद**—मिनान्दरने पहिले वौद्धोंके अनात्मवादकी ही परीक्षा करनी चाही। उसने पूछा[१]—

(क) "भन्ते (स्वामिन्)! आप किस नामसे जाने जाते है ?"

"नागसेन ...नामसे (मुझे) पुकारते है ? किन्तु यह केवल

---

[१] मिलिन्द-प्रश्न, २।१ (अनुवाद, पृ० ३०-३४)

व्यवहारकेलिए संज्ञा भर है, क्योंकि यथार्थमें ऐसा कोई एक पुरुष (=आत्मा) नही है।"

"भन्ते ! यदि एक पुरुष नही है तो कौन आपको वस्त्र. . .भोजन देता है ? कौन उसको भोग करता है ? कौन शील(=सदाचार)की रक्षा करता है ? कौन ध्यान . . .का अभ्यास करता है ? कौन आर्यमार्गके फल निर्वाणका साक्षात्कार करता है ? . . . .यदि ऐसी बात है तो न पाप है और न पुण्य, न पाप और पुण्यका कोई करनेवाला है. . .न करानेवाला है।. . . .न पाप और पुण्य . . .के. . . .फल होते है ? . . . .यदि आपको कोई मार डाले तो किसीका मारना नही हुआ।. . .(फिर) नागसेन क्या है ? . . . .क्या ये केश नागसेन है ?"

"नही महाराज !"

"ये रोयें नागसेन है ?"

"नही महाराज !"

"ये नख, दाँत, चमड़ा, मास, स्नायु, हड्डी, मज्जा, वुक्क, हृदय, यकृत, क्लोमक, प्लीहा, फुप्फुस, आँत, पतली आँत, पेट, पाखाना, पित्त, कफ, पीव, लोहू, पसीना, मेद, आँसू, चर्वी, राल, नासामल, कर्णमल, मस्तिष्क नागसेन है ?"

"नही महाराज !"

"तव क्या आपका रूप (=भौतिक तत्त्व). वेदना. . .संज्ञा . . . .संस्कार या विज्ञान नागसेन है ?"

"नही महाराज !"

". . . .तो क्या. . . .रूप . . .विज्ञान(=पाँचो स्कध) सभी एक साथ नागसेन है ?"

"नही महाराज !'

". . . .तो क्या. . . .रूप आदिसे भिन्न कोई नागसेन है ?"

"नही महाराज !"

"भन्ते ! मै आपसे पूछते-पूछते थक गया किन्तु 'नागसेन' क्या है,।

इसका पता नही लग सका । तो क्या नागसेन केवल शब्दमात्र है ? आखि
नागसेन है कौन ?"

"महाराज ! क्या आप पैदल चलकर यहाँ आये या कि
सवारीपर ?"

"भन्ते ! . मै .रथपर आया ।"

"महाराज ! तो मुझे बतावे कि आपका 'रथ' कहाँ है
क्या हरिस (=ईषा) रथ है ?"

"नही भन्ते !"

"क्या अक्ष रथ है ?"

"नही भन्ते !"

"क्या चक्के रथ है ?"

"नही भन्ते !"

"क्या रथका पजर . रस्सियाँ .लगाम .चाबुक.
रथ है ?"

"नही भन्ते !"

"महाराज ! क्या हरीस आदि सभी एक साथ रथ है ?"

"नही भन्ते !"

"महाराज ! क्या हरीस आदिके परे कही रथ है ?"

"नही भन्ते !"

"महाराज ! मैं आपसे पूछते-पूछते थक गया, किन्तु यह पता नहं
लगा कि रथ कहाँ है ? क्या रथ केवल एक शब्द मात्र है ? आखिर य
रथ है क्या ? आप झूठ बोलते है कि रथ नही है ! महाराज ! सा
जम्बूद्वीप (=भारत)के आप सबसे बडे राजा है, भला किससे डरक
आप झूठ बोलते है ?'

"भन्ते नागसेन ! मै झूठ नही बोलता । हरीस आदि रथके अवयवों
आधारपर केवल व्यवहारकेलिए 'रथ' ऐसा एक नाम बोला जाता है ।"

"महाराज ! बहुत ठीक, आपने जान लिया कि रथ क्या है । इसं

तरह मेरे केश आदिके आधारपर केवल व्यवहारकेलिए 'नागसेन' ऐसा एक नाम बोला जाता है। परन्तु, परमार्थमें 'नागसेन' कोई एक पुरुष विद्यमान नही है। भिक्षुणी वज्राने भगवान्के सामने इसीलिए कहा था—

'जैसे अवयवोके आधारपर 'रथ' सज्ञा होती है, उसी तरह (रूप आदि) स्कधोंके होनेसे एक सत्त्व (=जीव) समझा जाता है।' "[1]

(ख)[2]—"महाराज ! 'जान लेना' विज्ञानकी पहिचान है, 'ठीकसे समझ लेना' प्रज्ञाकी पहिचान है; और 'जीव' ऐसी कोई चीज नही है।"

"भन्ते ! यदि जीव कोई चीज ही नही है, तो हम लोगोमें वह क्या है जो आँखसे रूपोको देखता है, कानसे शब्दोको सुनता है, नाकसे गधोको सूँघता है, जीभसे स्वादोको चखता है, शरीरसे स्पर्श करता है और मनसे 'धर्मों'को जानता है।"

'महाराज ! यदि शरीरसे भिन्न कोई जीव है जो हम लोगोंके भीतर रह आँखसे रूपको देखता है, तो आँख निकाल लेनेपर बडे छेदसे उसे और भी अच्छी तरह देखना चाहिए। कान काट देनेपर बड़े छेदसे उसे और भी अच्छी तरह सुनना चाहिए। नाक काट देनेपर उसे और भी अच्छी तरह सूँघना चाहिए। जीभ काट देनेपर उसे और भी अच्छी तरह स्वाद लेना चाहिए और शरीरको काट देनेपर उसे और भी अच्छी तरह स्पर्श करना चाहिए।"

"नही भन्ते ! ऐसी बात नही है।"

"महाराज ! तो हम लोगोके भीतर कोई जीव भी नही है।"

(२) कर्म या पुनर्जन्म—आत्माके न माननेपर किये गये भले बुरे कर्मोकी जिम्मेवारी तथा उसके अनुसार परलोकमे दुःख-सुख भोगना कैसे होगा, मिंनान्दरने इसकी चर्चा चलाते हुए कहा।

"भन्ते ! कौन जन्म ग्रहण करता है ?"

"महाराज ! नाम[3] (=विज्ञान) और रूप[4] ।"

---

[1] संयुत्तनिकाय, ५।१०।६

[2] वहीं, ३।४।४४ (अनुवाद, पृष्ठ ११०) [3] Mind. [4] Matter.

"क्या यही नाम—रूप जन्म ग्रहण करता है ?"

"महाराज ! यही नाम और रूप जन्म नही ग्रहण करता। मनुष्य इस नाम और रूपसे पाप या पुण्य करता है, उस कर्मके करनेसे दूसरा नाम रूप जन्म ग्रहण करता है।"

"भन्ते ! तव तो पहिला नाम और रूप अपने कर्मोंसे मुक्त हो गया ?"

"महाराज ! यदि फिर भी जन्म नही ग्रहण करे, तो मुक्त हो गया, किन्तु, चूंकि वह फिर भी जन्म ग्रहण करता है, इसलिए (मुक्त) नही हुआ।"

". उपमा देकर समझावें।"

a. "आमकी चोरी[1]—कोई आदमी किसीका आम चुरा ले। उसे आमका मालिक पकडकर राजाके पास ले जाये—'राजन् ! इसने मेरा आम चुराया है'। इसपर वह(चोर) ऐसा कहे—'नही, मैंने इसके आमोंको नही चुराया है। इसने (जो आम लगाया था) वह दूसरा था, और मैंने जो आम लिये वे दूसरे है। . . ' महाराज ! अव वतावे कि उमे सजा मिलनी चाहिए या नहीं ?"

" सजा मिलनी चाहिए।"

"सो क्यो ?"

"भन्ते ! वह ऐसा भले ही कहे, किन्तु पहिले आमको छोड़ दूसरे हीको चुरानेके लिए उसे जरूर सजा मिलनी चाहिए।"

"महाराज ! इसी तरह मनुष्य इस नाम और रूपसे पाप या पुण्य करता है। उन कर्मोंसे दूसरा नाम और रूप जन्मता है। इसलिए वह अपने कर्मोंसे मुक्त नही हुआ।

b. "आगका प्रवास—महाराज ! कोई आदमी जाडेमे आग जलाकर तापे और उसे विना वुझाये छोडकर चला जाये। वह आग किसी दूसरे आदमीके खेतको जला दे (पकडकर राजाके पाम ले जानेपर वह आदमी वोले—) 'मैंने इस खेतको नही जलाया।

---

[1] वहीं, २।२।१४ (अनुवाद, पृष्ठ ५७-६०)

वह दूसरी ही आग थी, जिसे मैंने जलाया था, और वह दूसरी है जिससे ...खेत जला। मुझे सजा नही मिलनी चाहिए।'.. .महाराज ! उसे सजा मिलनी चाहिए या नही ?"

" . मिलनी चाहिए। . उसीकी जलाई हुई आगने वढते-वढते खेतको भी जला दिया। "

c. "दीपकसे आग लगना—महाराज ! कोई आदमी दीया लेकर अपने घरके उपरले छतपर जाये और भोजन करे। वह दीया जलता हुआ कुछ तिनकोमें लग जाये। वे तिनके घरको (आग) लगा दे, और वह घर सारे गाँवको लगा दे। गाँववाले उस आदमीको पकड कर कहे—'तुमने गाँवमे क्यो आग लगाई ?' इसपर वह कहे—'मैंने गाँवमे आग नही लगाई। उस दीयेकी आग दूसरी ही थी, जिसकी रोशनीमे मैंने भोजन किया था, और वह आग दूसरी ही थी, जिसने गाँव जलाया।' इस तरह आपसमे झगड़ा करते (यदि) वे आपके पास आवे, तो आप किधर फैसला देंगे ?"

"भन्ते ! गाँववालोकी ओर....।"

"महाराज ! इसी तरह यद्यपि मृत्युके साथ एक नाम और रूपका लय होता है और जन्मके साथ दूसरा नाम और रूप उठ खडा होता है, किन्तु यह भी उसीसे होता है। इसलिए वह अपने कर्मोंसे मुक्त नही हुआ।"

(ग) विवाहित कन्या—महाराज ! कोई आदमी. . रुपया दे एक छोटीसी लड़कीसे विवाह कर, कही दूर चला जाये। कुछ दिनोके वाद वह वढकर जवान हो जाये। तव कोई दूसरा आदमी रुपया देकर उससे विवाह कर ले। इसके वाद पहिला आदमी आकर कहे—'तुमने मेरी स्त्रीको क्यो निकाल लिया ?' इसपर वह ऐसा जवाव दे—'मैंने तुम्हारी स्त्रीको नही निकाला। वह छोटी लडकी दूसरी ही थी, जिसके साथ तुमने विवाह किया था और जिसकेलिए रुपये दिये थे। यह सयानी, जवान औरत दूसरी ही है जिसके साथ कि मैंने विवाह किया है और

जिसकेलिए रुपये दिये हैं। अब, यदि दोनो इस तरह झगड़ते हुए आपके पास आवें तो आप किधर फैसला देंगे ?"

" . पहिले आदमीकी ओर। .. (क्योंकि) वही लड़की तो बढकर सयानी हुई।"

(घ)[1]—"भन्ते ! जो उत्पन्न है, वह वही व्यक्ति है या दूसरा ?"

"न वही और न दूसरा ही। . (१) जब आप बहुत बच्चे थे और खाटपर चित्त ही लेट सकते थे, क्या आप अब इतने बड़े होकर भी वही है ?"

"नही भन्ते ! अब मै दूसरा हो गया हूँ।"

"महाराज ! यदि आप वही बच्चा नही है, तो अब आपकी कोई माँ भी नही है, कोई पिता भी नही है, कोई गुरु भी नही।...क्योंकि तब तो गर्भकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओकी भी भिन्न-भिन्न माताए होयेंगी। बडे होनेपर माता भी भिन्न हो जायेगी। शिल्प सीखनेवाला (विद्यार्थी) दूसरा और सीखकर तैयार (हो जानेपर).. .दूसरा होगा। अपराध करनेवाला दूसरा होगा और (उसकेलिए) हाथ-पैर किसी दूसरेका काटा जायेगा।"

"भन्ते ! .. आप इससे क्या दिखाना चाहते है ?"

"महाराज ! मै बचपनमें दूसरा था और इस समय बडा होकर दूसरा हो गया हूँ; किन्तु वह सभी भिन्न-भिन्न अवस्थाए इस शरीरपर ही घटनेसे एक हीमें ले ली जाती है।....

"(२) यदि कोई आदमी दीया जलावे, तो वह रात भर जलता रहेगा न ?"

" ...रातभर जलता रहेगा।"

"महाराज ! रातके पहिले पहरमें जो दीयेकी टेम थी। क्या वही दूसरे या तीसरे पहरमें भी बनी रहती है ?"

---

[1] वहीं, २।२।६ (अनुवाद, पृ० ४६)

"नहीं, भन्ते !"

"महाराज ! तो क्या वह दीया पहिले पहरमे दूसरा, दूसरे और तीसरे पहरमे और हो जाता है ?"

"नही भन्ते ! वही दीया सारी रात जलता रहता है ।"

"महाराज ! ठीक इसी तरह किसी वस्तुके अस्तित्वके सिलसिलेमें एक अवस्था उत्पन्न होती है, एक लय होती है—और इस तरह प्रवाह जारी रहता है । एक प्रवाहकी दो अवस्थाओमे एक क्षणका भी अन्तर नही होता; क्योकि एकके लय होते ही दूसरी उत्पन्न हो जाती है । इसी कारण न (वह) वही जीव है और न दूसरा ही हो जाता है । एक जन्मके अन्तिम विज्ञान (=चेतना)के लय होते ही दूसरे जन्मका प्रथम विज्ञान उठ खड़ा होता है ।

(ङ)[1]—"भन्ते ! जब एक नाम-रूपसे अच्छे या बुरे कर्म किये जाते है, तो वे कर्म कहाँ ठहरते है ?"

"महाराज ! कभी भी पीछा नही छोडनेवाली छायाकी भाँति वे कर्म उसका पीछा करते है ।"

"भन्ते ! क्या वे कर्म दिखाये जा सकते है, (कि) वह यहाँ ठहरे है ?"

"महाराज ! वे इस तरह नही दिखाये जा सकते ।. . .क्या कोई वृक्षके उन फलोको दिखा सकता है जो अभी लगे ही नही. . . .?"

(२) नाम और रूप—बुद्धने विश्वके मूल तत्त्वोको विज्ञान (=नाम) और भौतिकतत्त्व (=रूप)में बाँटा है, इनके बारेमें मिनान्दरने पूछा—

"भन्ते ! . . .नाम क्या चीज है और रूप क्या चीज ?"

"महाराज ! जितनी स्थूल चीजे है, सभी रूप है; और जितने सूक्ष्म मानसिक धर्म है, सभी नाम है ।. . . .दोनो एक दूसरेके आश्रित है, एक दूसरेके बिना ठहर नही सकते । दोनों (सदा) साथ ही होते है ।. . . . यदि मुर्गीके पेटमें (बीज रूपमें) बच्चा नही हो तो अडा भी नही हो

---

[1] वही

सकता, क्योकि बच्चा और अडा दोनो एक दूसरेपर आश्रित है। दोनों एक ही साथ होते है। यह (सदासे) . .होता चला आया है। .. "

(४) **निर्वाण**—मिनान्दरने निर्वाणके बारेमें पूछते हुए कहा[1]—

"भन्ते ! क्या निरोध हो जाना ही निर्वाण है?"

"हाँ, महाराज ! निरोध (=बन्द)हो जाना ही निर्वाण है।.... सभी... अज्ञानी. . विषयोके उपभोगमे लगे रहते है, उसीमें आनन्द लेते है, उसीमें डूबे रहते है। वे उसीकी धारामें पडे रहते है, बार-बार जन्म लेते, बूढे होते, मरते, शोक करते, रोते-पीटते, दु ख बेचैनी और परेशानीसे नही छूटते। (वह) दु ख ही दु खमे पडे रहते है। महाराज ! किन्तु ज्ञानी....विषयोके भोग(=उपादान)मे नही लगे रहते। इससे उनकी तृष्णाका निरोध हो जाता है। उपादानके निरोधसे भव(=आवा-गमन)का निरोध हो जाता है। भवके निरोधसे जन्मना बन्द हो जाता है। ...(फिर) बूढा होना, मरना ..सभी दु ख बन्द=(निरुद्ध) हो जाते है। महाराज ! इस तरह निरोध हो जाना ही निर्वाण है।" .

[2]". ..(बुद्ध) कहाँ है ?"

"महाराज ! भगवान् परम निर्वाणको प्राप्त हो गये है, जिसके बाद उनके व्यक्तित्वको बनाये रखनेकेलिए कुछ भी नही रह जाता... ।"

"भन्ते ! उपमा देकर समझावें।"

"महाराज ! क्या होकर-बुझ-गई जलती आगकी लपट, दिखाई जा सकती है.. ?"

"नही भन्ते ! वह लपट तो बुझ गई।"

नागसेनने अपने प्रश्नोत्तरोसे बुद्धके दर्शनमे कोई नई बात नही जोडी, किन्तु उन्होने उसे कितना साफ किया यह ऊपरके उद्धरणोसे स्पष्ट है। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए, कि नागसेनका अपना जन्म

---

[1] वही, ३।१।६ (अनुवाद, पृ० ८५)

[2] वहीं, ३।२।१८ (अनुवाद, पृ० ९१)

हिन्दी-यनानी साम्राज्य और सभ्यताके केन्द्र स्यालकोट (=सागल) के पास हुआ था, और भारतीय ज्ञानके साथ-साथ यूनानी ज्ञानका भी परिचय रखनेके कारण ही वह मिनान्दर जैसे तार्किकका समाधान कर सके थे। मिनान्दर और नागसेनका यह सवाद इतिहासकी उस विस्तृत घटनाका एक नमूना है, जिसमे कि हिन्दी और यूनानी प्रतिभाए मिलकर भारतमें नई विचार-धाराओंका आरम्भ कर रही थी।

चतुर्थ अध्याय

बौद्ध-सम्प्रदाय

१. **बौद्ध धार्मिक संप्रदाय**—बुद्ध आत्मवादके सख्त विरोधी थे, फिर साथ ही वह भौतिकवादके भी खिलाफ थे, यह हम बतला चुके हैं। मौर्योंके शासनकालके अन्त तक मगध ही बौद्ध-धर्मका केन्द्र था, किन्तु साम्राज्यके ध्वसके साथ बौद्ध धर्मका केन्द्र भी कमसे कम उसकी सबसे अधिक प्रभावशाली शाखा (=निकाय)—पूरबसे पश्चिमकी ओरको लेनेपर हटने लगा। इसी स्थान-परिवर्त्तनमें स र्वा स्ति वा द निकाय मगधसे उरुमुड पर्वत (=गोवर्धन, मथुरा) पहुँचा, और यवन-शासन कालमें पजाबमें जोर पकडते-पकडते कनिष्कके समय ईसाकी पहिली सदीके मध्यमें गधार-कश्मीर उसके प्रधान केन्द्र बन गये। यही जगह थी, जहाँ वह यूनानी विचार, कला आदिके सपर्कमें आया। अशोकके समय (२६९ ई० पू०) तक बौद्ध धर्म निम्न सप्रदायोमें बँट चुका था[1]—
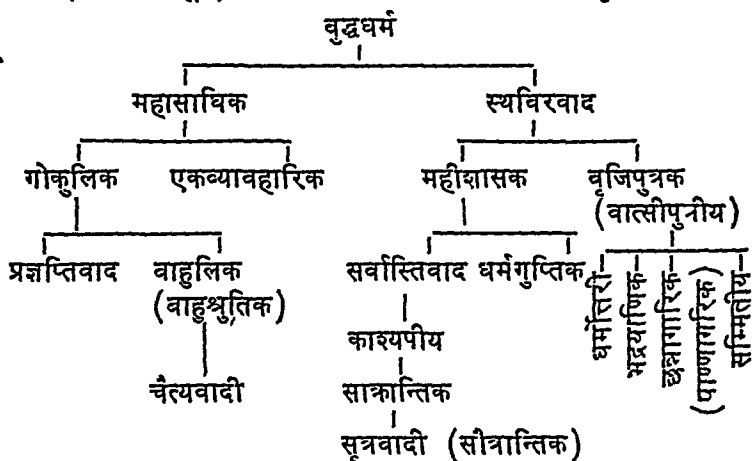
[1]देखो मेरी "पुरातत्त्व-निबंधावली", पृ० १२१ (और कथावत्थु-अट्ठकथा भी)।

अर्थात्—वुद्धनिर्वाण (४८३ ई० पू०)के वादके सौ वर्षो (३८० ई० पू०)मे स्थविरवाद (=वृद्धोके रास्तेवाले) और महासाघिक जो दो निकाय (=सप्रदाय) हुए थे, वह अगले सवा सौ वर्षोमे वँटकर महासाघिकके छै और स्थविरवादके वारह कुल अठारह निकाय हो गए—सर्वास्तिवाद स्थविरवादियोके अन्तर्गत था। इन अठारह निकायोंके पिटक (सूत्र, विनय, अभिधर्म) भी थे, जो सूत्र और विनयमें वहुत कुछ समानता रखते थें, किन्तु अभिधर्म पिटकमे मतभेद ही नही वल्कि उनकी पुस्तके भी भिन्न थी। स्थविरवादियोने इन प्राचीन निकायोमेंसे निम्न आठके कितने ही मतोका अपने अभिधर्मकी पुस्तक 'कथावत्थु'मे खडन किया है—

महासांघिक, गोकुलिक, काश्यपीय; भद्रयाणिक, महीशासक, वात्सीपुत्रीय, सर्वास्तिवाद, साम्मितीय।

क था व त्थु को अशोकके गुरु मोग्गलिपुत्त तिस्सकी कृति वतलाया जाता है, किन्तु उसमे वर्णित २१४ कथावस्तुओ (=वादके विषयो)में सिर्फ ७३ उन पुराने निकायोसे संवध रखते है,[1] जो कि मोग्गलिपुत्त तिस्सके समय तक मौजूद थे—अर्थात् उसका इतना ही भाग मोग्गलिपुत्तका वनाया हो सकता है। वाकी "कथावस्तु" अशोकके वादके निम्न आठ निकायोसे सवध रखती है—

(१) अन्धक, (२) अपरशैलीय, (३) पूर्वशैलीय, (४) राजगिरिक, (५) सिद्धार्थक (६) वैपुल्यवाद, (७) उत्तरापथक, (८) हेतुवाद।

२. बौद्ध दार्शनिक संप्रदाय—इन पुराने निकायोंके दार्शनिक विचारोमे जानेकी जरूरत नही, क्योकि वह "दिग्दर्शन"के कलेवरसे वाहरकी वात है, किन्तु इतना स्मरण रखना चाहिए कि वौद्धोंके जो चार दार्शनिक सप्रदाय प्रसिद्ध है, उनमें (१) सर्वास्तिवाद और (२) सौत्रान्तिक दर्शन तो पुराने अठारह निकायोसे सवध रखते थे, वाकी (३) योगाचार और (४) माध्यमिक अठारह निकायोसे वहुत पीछे ईसाकी

---

[1] देखो वहीं, पृ० १२६, टिप्पणी भी।

पहिली सदीमे आदिम रूपमे आए। इनके विकासके क्रमके वारेमे हम "महायान वौद्ध धर्मकी उत्पत्ति"[१]मे लिख चुके है। महासाघिकोमें एक निकायका नाम था चैत्यवाद, जिनका केन्द्र आन्ध्र-साम्राज्यमें धान्यकटकका महाचैत्य (=महास्तूप) था, इसीसे इनका नाम ही चैत्यवादी पडा। आन्ध्र साम्राज्यके पच्छिमी भाग (वर्त्तमान महाराष्ट्र) मे साम्मितीय निकायका जोर था। इन्ही दोनो निकायोसे आगे चलकर महायानका विकास निम्न प्रकार हुआ—[१]

योगाचारका जवर्दस्त समर्थक "लकावतार-सूत्र" वैपुल्यवादी पिटकसे सवध रखता है। नागार्जुनके माध्यमिक (=शून्य) वादके समर्थनमें प्रज्ञापार-मिताए तथा दूसरे सूत्र रचे गये, किन्तु नागार्जुनको अपने दर्शनकी पुष्टिके लिए इनकी जरूरत न थी, उन्होने तो अपने दर्शनको प्रतीत्य-समुत्पाद (-विच्छिन्न=प्रवाहरूपेण उत्पत्ति)पर आधारित किया था।

कथावत्थुके "अर्वाचीन" निकायोमे हमने उत्तरापथक और हेतुवाद-का भी नाम पढा है। उत्तरापथक कश्मीर-गधारका निकाय था इसमे सन्देह नही। किन्तु हेतुवादके स्थानके वारेमें हमे मालूम नही। अफलातूंके विज्ञानवादको प्रतीत्य-समुत्पादसे जोड देनेपर वह आसानीसे योगाचार विज्ञानवाद वन जाता है, किन्तु अभी हमारे पास इससे अधिक प्रमाण नही

---

[१] वहीं, पृ० १२७

है, कि उसके दार्शनिक असगका जन्म और कर्म स्थान पेशावर (गधार) था। नागार्जुनके बाद बौद्धदर्शनके विकासमें सबसे जबर्दस्त हाथ असग और वसुबंधु इन दो पठान-भाइयोका था। नागार्जुनसे एक शताब्दी पहिलेके जबर्दस्त बौद्ध विचारक अश्वघोषको यदि हम लें, तो उनका भी कर्मक्षेत्र पेशावर (गधार) ही मालूम होता है। इससे भी बौद्ध दर्शनपर यूनानी प्रभावका पड़ना जरूरी मालूम होता है। अश्वघोषको महायानी अपने आचार्योमे शामिल करते हैं, और इसके सबूतमें "महायानश्रद्धोत्पाद" ग्रथको उनकी कृतिके तौरपर पेश करते है; किन्तु जिन्होने "बुद्धचरित", "सौन्दरानद", "सारिपुत्त-प्रकरण" जैसे काव्य नाटकोको पढा है, तिब्बती भाषामे अनूदित उनके सर्वास्तिवादी सूत्रोपर व्याख्याए देखी है, और जो "सर्वास्तिवादी आचार्यों"को चैत्य बनाकर अर्पित करनेवाले तथा त्रिपिटककी व्याख्या ("विभाषा")केलिए सर्वास्तिवादी आचार्योकी परिषद् बुलानेवाले महाराज कनिष्कपर विचार करते है, वह अश्वघोषको सर्वास्तिवादी[1] स्थविर छोड़ दूसरा कह नही सकते।

अस्तु ! यूनानी तथा शक-कालके इन बौद्ध प्राचीन निकायोपर यदि और रोशनी डाली जा सके; तो हमे उन्हीके नही, भारतीय दर्शनके एक भारी विकासके इतिहासके बारेमे बहुत कुछ मालूम हो सकेगा। किन्तु, चीनी तिब्बती अनुवाद, तथा गोबीकी मरुभूमि हमारी इस विषयमें कितनी मदद कर सकती है, यह आगेके अनुसन्धानके विषय हैं। अभी हमे इससे ज्यादा नही कहना है कि भारतीय और यूनानी विचारधाराका जो समागम गधारमें हो रहा था, उसमें अश्वघोष अपने आधुनिक ढंगके काव्यो और नाटकोको ही नही बल्कि नवीन दर्शनको भी यूनानसे मिलानेवाली कड़ी थे। उनसे किसी तरह नागार्जुनका सबंध हुआ।

---

[1] पोइ-खङ् (तिब्बत)में सुरक्षित एक संस्कृत ताल-पत्रकी पुस्तककी पुष्पिकामें अश्वघोषको सर्वास्तिवादी भिक्षु भी लिखा मिला है। (देखो J. B. O. R. S. में मेरे प्रकाशित सूचीपत्रोंको)।

फिर नागार्जुनने वह दर्शन-चक्रप्रवर्त्तन किया, जिसने भारतीय दर्शनोको एक अभिनव सुव्यवस्थित रूप दिया।

३. नागार्जुन (१७५ ई०) का शून्यवाद (१) जीवन—नागार्जुनका जन्म विदर्भ (=वरार)में एक ब्राह्मणके घर हुआ था। उनके बाल्यके बारेमें हम अनुमान कर सकते हैं, कि वह एक प्रतिभाशाली विद्यार्थी थे, ब्राह्मणोके ग्रथोका गम्भीर अध्ययन किया था। भिक्षु बननेपर उन्होने बौद्ध ग्रथोका भी उसी गभीरताके साथ अध्ययन किया। आगे चलकर उन्होने श्रीपर्वत (=नागार्जुनीकोडा, गुन्टूर)को अपना निवास-स्थान बनाया, जो कि उनकी ख्याति, तथा समय बीतनेके साथ गढे जानेवाले पँवारोके कारण सिद्ध-स्थान बन गया। नागार्जुन वैद्यक और रसायन शास्त्रके भी आचार्य बतलाये जाते हैं। उनका "अष्टागहृदय" अब भी तिब्बतके वैद्योकी सबसे प्रामाणिक पुस्तक है। किन्तु नागार्जुनकी सिद्धाई तथा तत्र-मत्रके बनाने बढानेकी बातें जो हमें पीछेके बौद्ध साहित्यमें मिलती हैं, उनसे हमारे दार्शनिक नागार्जुनका कोई सबध नही।

नागार्जुन आन्ध्रराजा गौतमीपुत्र यज्ञश्री (१६६-१९६ ई०) के समकालीन थे, विन्टरनिट्ज[1]का यह मत युक्तियुक्त मालूम होता है।

नागार्जुनके नामसे वैसे बहुतसे ग्रथ प्रसिद्ध हैं, किन्तु उनकी असली कृतियाँ हैं—

(१) माध्यमिककारिका, (२) युक्तिषष्ठिका, (३) प्रमाणविध्वसन, (४) उपायकौशल्य, (५) विग्रहव्यावर्त्तनी[2]।

इनमें सिर्फ दो—पहिली और पाँचवी ही मूल सस्कृतमे उपलब्ध हैं।

(२) दार्शनिक विचार—नागार्जुनने विग्रह व्यावर्त्तनीमें विरोधी

---

[1]History of Indian literature, Vol.II, pp. 346–48.

[2]Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Patna, Vol. XXIII में मेरे द्वारा संपादित।

तर्कोंका खडन करके कान्टके वस्तु-सारसे उलटे वस्तु-शून्वता—यस्तुओके भीतर कोई स्थिर तत्त्व नही, वह विच्छिन्न प्रवाह मात्र है—सिद्धि की है ।

(क) शून्यता—नागार्जुनको कारिका शैलीका प्रवर्त्तक कहा जाता है । कारिकामे पद्यकी-सी स्मरण करने, तथा सूत्रकी भाँति अधिक बातोको थोड़े शब्दोमे कहनेकी सुविधा होती है । कमसे कम नागार्जुनके तीन ग्रथ (१, २, ५) कारिकाओमे ही हैं । "विग्रहंव्यावर्त्तनी"मे ७२ कारिकाए है, जिनमे अन्तिम दो माहात्म्य और नमस्कार श्लोक है, इसलिए मूलग्रथ सत्तर ही कारिकाओका हुआ । वह शून्यतापर है, इसलिए जान पडता है विग्रह-व्यावर्त्तनका ही दूसरा नाम "शून्यता सप्तति" है । इन कारिकाओपर आचार्यने स्वय सरल व्याख्या की है ।

नागार्जुनने ग्रथके आदिमे नमस्कार श्लोक और ग्रथ-प्रयोजन नही दिया है, जो कि पीछेके बौद्ध अबौद्ध ग्रथोमे सर्वमान्य परिपाटीसी बन गई देखी जाती है। नागार्जुनने ७१वी कारिकामे शून्यताका माहात्म्य बतलाते हुए लिखा है—

"जो इस शून्यताको समझ सकता है, वह सभी अर्थोंको समझ सकता है।
जो शून्यताको नही समझता, वह कुछ भी नही समझ सकता ॥"[1]

इसकी व्याख्यामें आचार्यने बतलाया है, कि जो शून्यताको समझता है, वह प्रतीत्य-समुत्पाद (=विच्छिन्न प्रवाहके तौरपर उत्पत्ति)को समझ सकता है, प्रतीत्य-समुत्पाद समझनेवाला चारो आर्यसत्योंको समझ सकता है । चारो सत्योंके समझनेपर उसे तृष्णा-निरोध (=निर्वाण) आदि पदार्थोंकी प्राप्ति हो सकती है । प्रतीत्य-समुत्पाद जाननेवाला जान सकता है कि क्या धर्म है, क्या धर्मका हेतु और क्या धर्मका फल है । वह जान सकता है कि अधर्म, अधर्म-हेतु, अधर्म-फल क्या है, क्लेश (चित्तमल), क्लेश-हेतु, क्लेश-वस्तु क्या है । जिसे यह सब मालूम है, वह जान सकता है कि क्या है सुगति या दुर्गति, क्या है सुगति-दुर्गतिमें जाना, क्या है सुगति-

---

[1] "प्रभवति च शून्यतेयं यस्य प्रभवन्ति तस्य सर्वार्थाः ।
प्रभवति न तस्य किंचित् न भवति शून्यता यस्य ॥"

दुर्गतिमे जानेका मार्ग, क्या है सुगति-दुर्गतिसे निकलना तथा उसका उपाय।

शून्यतासे नागार्जुनका अर्थ है,प्रतीत्य-समुत्पाद[१]—विश्व और उसकी सारी जड-चेतन वस्तुए किसी भी स्थिर अचल तत्त्व (=आत्मा,द्रव्य आदि) से विलकुल शून्य हैं। अर्थात् विश्व घटनाए है, वस्तु समूह नही। आचार्यने अपने ग्रथकी पहिली वीस कारिकाओमे पूर्वपक्षीके आक्षेपोको दिया है, और ग्रथके उत्तरार्द्धमे उसका उत्तर देते हुए शून्यताका समर्थन किया है। सक्षेपमें उनकी तर्कप्रणाली इस प्रकार है—

पूर्वपक्ष—(१) वस्तुसारसे इन्कार—अर्थात् शून्यवाद ठीक नही है, क्योकि (i) जिन शब्दोको तुम युक्तिके तौरपर इस्तेमाल करते हो, वह भी शून्य—अ-सार—होगे; (ii) यदि नही, तो तुम्हारी पहिली वात—सभी वस्तुए शून्य हैं—झूठी पडेगी, (iii) शून्यताको सिद्ध करनेकेलिए कोई प्रमाण नही है।

(२) सभी भाव (=वस्तुए) वास्तविक है; क्योकि, (i) अच्छे वुरेके भेदको सभी स्वीकार करते है, (ii) जो वस्तु है नही उसका नाम ही नही मिलता, (iii) वास्तविकताका प्रतिषेध युक्तिसिद्ध नही; (iv) प्रति-षेध्यको भी सिद्ध नही किया जा सकता।

उत्तरपक्ष—(१) सभी भावो (=सत्ताओ) की शून्यता या प्रतीत्य-समुत्पाद (=विच्छिन्न प्रवाहके रूपमे उत्पत्ति) सिद्ध है, क्योकि, (i) विश्व-की अवास्तविकताका स्वीकार, शून्यता सिद्धान्तके विरुद्ध नही है, (ii) इस-लिए वह हमारी प्रतिज्ञाके विरुद्ध नही; (iii) जिन प्रमाणोसे भावोकी वास्तविकता सिद्ध की जा सकती है, उन्हीको सिद्ध नही किया जा सकता—(a) न प्रमाण दूसरे प्रमाणसे सिद्ध किया जा सकता क्योकि ऐसी अवस्था

---

[१] विग्रहव्यावर्त्तनी २२—"इह हि यः प्रतीत्य भावानां भावः सा शून्यता। कस्मात् ? निः स्वभावत्वात्। ये हि प्रतीत्य समुत्पन्ना भावास्ते न सस्वभावा भवन्ति स्वभावाभावात्। कस्माद् ? हेतुप्रत्ययापेक्षत्वात्। यदि हि स्वभावतो भावा भवेयुः। प्रत्याख्यायापि हेतुप्रत्ययं भवेयुः।"

में वह प्रमाण नही प्रमेय(=जिसे अभी प्रमाणसे सिद्ध करना है)हो जायगा, (b) वह आगकी भाँति अपनेको सिद्ध कर सकता है; (c) न वह प्रमेयसे सिद्ध किया जा सकता है, क्योकि प्रमेय तो खुद ही सिद्ध नही, साध्य है, (d) न वह संयोग (=इत्तिफाक)से सिद्ध किया जा सकता है, क्योकि सयोग कोई प्रमाण नही है।

(२) भावो(=सत्ताओ)की शून्यता सत्य है; क्योकि (i) यह अच्छे बुरेके भेदके खिलाफ नही है; वह भेद तो स्वय प्रतीत्य-समुत्पादके कारण ही है। यदि प्रतीत्य समुत्पादके आधारपर नही बल्कि स्वत. परमार्थ रूपेण अच्छे बुरेका भेद हो, तो वह अचल एकरस है, फिर ब्रह्मचर्य आदिके अनुष्ठान द्वारा इच्छानुकूल उसे बदला नही जा सकता; (ii) शून्यता होनेपर नाम नही हो सकता, यह भी ख्याल गलत है; क्योकि नामको हम सद्भूत नही असद्भूत मानते है। सत्(=स्थिर, अविकारी, वस्तुसार)का ही नाम हो, अ-सत्का नही, यह कोई नियम नही; (iii) प्रतिषेध नही सिद्ध किया जा सकता यह कहना गलत है, क्योकि अप्रतिषेधको सिद्धको करनेकेलिए प्रमाण आदिकी ज़रूरत पडेगी।

अ क्ष पा दके न्यायसूत्रका प्रमाण-सिद्धि प्रकरण तथा विग्रह-व्यावर्त्तिनी एक ही विषयके पक्ष प्रति-पक्षमें है। हम अन्यत्र[1] बतला चुके है, कि अक्षपादने अपने न्यायसूत्रमे नागार्जुनके उपरोक्त मतका खडन किया है।

पुस्तकको समाप्त करते हुए नागार्जुनने कहा है—

"जिसने शून्यता प्रतीत्य-समुत्पाद और अनेक-अर्थोवाली मध्यमा प्रतिपद(=बीचके मार्ग)को कहा, उस अप्रतिम बुद्धको प्रणाम करता हूँ।"[2]

---

[1] विग्रहव्यावर्त्तनीकी भूमिका (Preface)में हम बतला आये हैं कि अक्षपादने नागार्जुनके इसी मतका खंडन किया है।

[2] वि० व्या० ७२—

"यः शून्यतां प्रतीत्यसमुत्पादं मध्यमां प्रतिपदमनेकार्थाम्।
निजगाद प्रणमामि तमप्रतिमसंबुद्धम्॥"

(a) प्रमाण-विध्वंसनमें नागार्जुनने प्रमाणवादका खडन किया है, नागार्जुन प्रमाणवादका खडन करते भी परमार्थके अर्थमे ही उसका खडन करते है, व्यवहार-सत्यमे वह उससे इन्कार नही करते। लेकिन प्रमाण जैसा प्रवल खडन उन्होने अपने ग्रथोमें किया, उसका परिणाम यह हुआ कि माध्यमिक दर्शन व्यवहार-सत्यवादी वस्तुस्थितिपोषक दर्शन होनेकी जगह सर्वध्वसक नास्तिवाद वन गया[1]। "प्रमाण-विध्वसन"मे अक्षपादकी तरह ही प्रमाण, प्रमेय आदि अठारह पदार्थोंका सक्षिप्त वर्णन है। इसी तरह उपाय-कौशल्यमे भी शास्त्रार्थ-सवधी वातो—निग्रह-स्थान, जाति आदि—के वारेमे कहा गया है, जो कि हमे अक्षपादके सूत्रोमें भी मिलता है। उपाय-कौशल्यका अनुवाद चीनी-भाषामे ४७२ ई०में हुआ था[2]। इनके वारेमे हम यही कह सकते है कि अनुयायियोमेंसे किसीने दूसरेके ग्रथसे लेकर इसे अपने आचार्यके ग्रथमें जोड दिया है।

(ख) माध्यमिक-कारिकाके विचार—दर्शनकी दृष्टिसे नागार्जुनकी कृतियोमे विग्रह-व्यावर्त्तनी और माध्यमिक-कारिकाका ही स्थान ऊँचा है। नागार्जुनका शून्यतासे अभिप्राय है, प्रतीत्य-समुत्पाद, यह हम "विग्रह व्यावर्त्तनी"में देख आये है। नागार्जुन प्रतीत्य-समुत्पादके दो अर्थ लेते हैं—(१) प्रत्यय (=हेतु या कारण)से उत्पत्ति, "सभी वस्तुए प्रतीत्य समुत्पन्न हैं"का अर्थ है, सभी वस्तुए अपनी उत्पत्तिमें=अपनी सत्ताको पानेकेलिए दूसरे प्रत्यय या हेतुपर आश्रित (=पराश्रित) हैं। (२) प्रतीत्य-समुत्पादका दूसरा अर्थ क्षणिकता है, सभी वस्तु क्षणके वाद नष्ट हो जाती है, और उनके वाद दूसरी नई वस्तु या घटना क्षण भरके लिए आती है, अर्थात् उत्पत्ति विच्छिन्न-प्रवाह-सी हैं। प्रतीत्य-समुत्पाद-को ही मध्यम-मार्ग कहा जाता है, यह कह चुके है, और यह भी कि वुद्ध न आत्मवादी थे न भौतिकवादी, वल्कि उनका रास्ता इन दोनोंके वीचका (=मध्यम-मार्ग) था—वह "विच्छिन्न प्रवाह"को मानते थे।

---

[1] सर्वदर्शन-संग्रह, वौद्ध-दर्शन। [2] Nanjio, 1257.

आत्मवादियोकी सतत विद्यमानताके विरुद्ध उन्होने विच्छिन्न या प्रतीत्य-को रखा, और भौतिकवादियोके सर्वथा उच्छेद (=विनाश)के विरुद्ध प्रवाहको रखा।

पराश्रित उत्पादके अर्थको लेकर नागार्जुन साबित करना चाहते है, कि जिसकी उत्पत्ति, स्थिति या विनाश है, उसकी परमार्थ सत्ता कभी नही मानी जा सकती।

माध्यमिक दर्शन वस्तुसत्ताके परमार्थ रूपपर विचार करते हुए कहता है—

"न सत् है, न अ-सत् है, न सत्-और-अ-सत् दोनो है, न सत्-असत्-दोनो नही है।"

"कारक है, यह कर्मके निमित्त (=प्रत्यय)से ही कह सकते है, कर्म है यह कारकके निमित्तसे; यह छोड़ दूसरा (सत्ताकी) सिद्धिका कारण हम नही देखते है।"[1]

इस प्रकार कारक और कर्मकी सत्यता अन्योन्याश्रित है, अर्थात् स्वतत्र रूपसे दोनोमें एककी भी सत्ता सिद्ध नही है। फिर स्वयं असिद्ध वस्तु दूसरेको क्या सिद्ध करेगी ? इसी न्यायको लेकर नागार्जुन कहते है, कि किसीकी सत्ता नही सिद्ध की जा सकती—सत्ता और असत्ता भी इसी तरह एक दूसरेपर आश्रित है, इसलिए ये अलग-अलग, दोनो या दोनोंके रूपमें भी नही सिद्ध किये जा सकते।

कर्त्ता और कर्मका निषेध करते हुए नागार्जुन फिर कहते है—

"सत्-रूप कारक सत्-रूप कर्मको नही करता, (क्योकि) सत्-रूपसे क्रिया नही होती, अत. कर्मको कर्त्ताकी ज़रूरत नही।

सद्-रूपकेलिए क्रिया नही, अत. कर्त्ताको कर्मकी ज़रूरत नही।"[2]

इस प्रकार परस्पराश्रित सत्तावाली वस्तुओमे कर्त्ता, कर्म, कारण, क्रियाको सिद्ध नही किया जा सकता।

---

[1] माध्यमिक-कारिका ६२ [2] वहीं ५८, ५९

"कही भी कोई सत्ता न स्वत है, न परत , न स्वत परत दोनो, और न विना हेतुके ही है ।"[1]

कार्य कारण सबधका खडन करते हुए नागार्जुनने लिखा है—

"यदि पदार्थ सत् है, तो उसकेलिए प्रत्यय (=कारण)की ज़रूरत नही । यदि अ-सत् है तो भी उसकेलिए प्रत्ययकी ज़रूरत नही ।

(गदहेके सीगकी भाँति)अ-सत् पदार्थकेलिए प्रत्ययकी क्या ज़रूरत ?

सत् पदार्थको (अपनी सत्ताकेलिए) प्रत्ययकी क्या ज़रूरत ?"[2]

उत्पत्ति, स्थिति और विनाशको सिद्ध करनेकेलिए कार्य-कारण, सत्ता-असत्ता आदिके विवेचनमें पडकर आखिर हमे यही मालूम होता है कि वह परस्पराश्रित है, ऐसी अवस्थामें उन्हें सिद्ध नही किया जा सकता। बौद्ध-दर्शनमे पदार्थोको सस्कृत (=कृत) और अ-सस्कृत (अ-कृत) दो भागोमें बाँटकर सारी सत्ताओको सस्कृत और निर्वाणको असस्कृत कहा गया है। नागार्जुनने इस सस्कृत असस्कृत विभागपर प्रहार करते हुए कहा है—

"उत्पत्ति-स्थिति-विनाशके सिद्ध होनेपर सस्कृत नही (सिद्ध) होगा। सस्कृतके सिद्ध हुए विना अ-सस्कृत कैसे सिद्ध होगा ?"[3]

जगत् और उसके पदार्थोंकी मरुमरीचिका बतलाते हुए नागार्जुनने लिखा है[4]—

"(रेगिस्तानकी) लहरको पानी समझकर भी यदि वहाँ जाकर पुरुष 'यह जल नही है' समझे तो वह मूढ है। उसी तरह मरीचि समान (इस) लोकको 'है' समझनेवालेका 'नही है' यह मोह भी मोह होनेसे युक्त नही है।"

जिस तरह पराश्रित उत्पाद (=प्रतीत्य-समुत्पाद) होनेसे किसी वस्तुको सिद्ध, असिद्ध, सिद्ध-असिद्ध, न-सिद्ध-न-अ-सिद्ध नही किया जा सकता, उसी तरह प्रतीत्य-समुत्पादका अर्थ विच्छिन्न प्रवाह रूपसे उत्पाद लेनेपर वहाँ

---

[1] मध्य० का० ४ [2] वहीं २२ [3] वहीं ५६ [4] वहीं ५६

भी कार्य, कारण, कर्म, कर्त्ता आदि व्यवस्था नही हो सकती, क्योंकि उनमेंसे एक वस्तु दूसरेके विलकुल उच्छिन्न हो जानेपर अस्तित्वमे आती हैं।

(ग) शिक्षायें—आन्ध्रवशी राजाओकी पदवी शातवाहन (शालिवाहन[1] भी) होती थी। तत्कालीन शातवाहन राजा (यज्ञश्री गौतमी पुत्र) नागार्जुनका "सुहृद्" था। यह सुहृद् राजा साधारण नही भारी राजा था, यह नागार्जुनसे चार सदी बाद हुए बाणके हर्षचरितके इस वाक्यसे पता लगता है[2]—"नागार्जुन नामक भिक्षुने उस एकावली (हार)को नागराजसे माँगा और पाया भी। (फिर) उसे (अपने) सुहृद् तीन समुद्रोंके स्वामी शातवाहन नामक नरेन्द्रको दिया।"

यहाँ शातवाहनको तीनो समुद्रो (अरब सागर, दक्षिण-भारत सागर, वंग-खाड़ी)का स्वामी तथा नागार्जुनका सुहृद् बतलाया गया है। नागार्जुन जैसा प्रतिभाशाली विद्वान् जिसके राज्य (=विदर्भ)में पैदा हुआ तथा रहता हो, वह उससे क्यो नही सौहार्द प्रदर्शन करेगा? नागार्जुनने अपने सुहृद् शातवाहन राजाको एक शिक्षापूर्ण पत्र "सुहृद्-लेख" लिखा था, जिसका अनुवाद तिब्बती तथा चीनी दोनो भाषाओमे अब भी सुरक्षित है। इस लेखमें नागार्जुनने जो शिक्षाएं अपने सुहृद्को दी है, उनमेंसे कुछ इस प्रकार है—

"६. धनको चचल और असार समझ धर्मानुसार उसे भिक्षुओ, ब्राह्मणों, गरीबो और मित्रोको दो, दानसे बढकर दूसरा मित्र नही है।"

---

[1] बैस राजपूत अपनेको सालवाहन वंशज तथा पैठन नगरसे आया बतलाते है। पैठन या प्रतिष्ठान (हैदराबाद रियासत) नगर शातवाहन राजाओंकी राजधानी थी।

[2] "...तामेकावलीं ..तस्मान्नागराजात् नागार्जुनो नाम.... भिक्षुरभिक्षत् लेभे च।... त्रिसमुद्राधिपतये शातवाहननाम्ने नरेन्द्राय सुहृदे स ददौ ताम्।"

—हर्षचरित ७

"७ निर्दोष, उत्तम, अमिश्रित, निष्कलक, शील(=सदाचार)को (कार्यरूपमें) प्रकट करो; सभी प्रभुताओंका आधार शील है, जैसे कि चराचरका आधार धरती है।

"२१ दूसरेकी स्त्रीपर नज़र न दौडाओ, यदि देखो तो आयुके अनुसार उसे मा, वहिन या वेटीकी तरह समझो।

"२९ तुम जगको जानते हो; ससारकी आठ स्थितियो—लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा—मे समान भाव रखो, क्योकि वह तुम्हारे विचारके विषय नही है।

"३७ किन्तु उस एक स्त्री (अपनी पत्नी)को परिवारकी अधिष्ठात्री देवीकी भाँति सम्मान करना, जो कि वहिनकी भाँति मजुल, मित्रकी भाँति विजयिनी, माताकी भाँति हितैषिणी, सेवककी भाँति आज्ञाकारिणी है।

"४९ यदि तुम मानते हो कि 'मै रूप (=भौतिकतत्त्व) नही हूँ', तो इससे तुम समझ जाओगे कि रूप आत्मा नही है, आत्मा रूपमे नही है, रूप आत्मा (=मेरे)में नही वसता। इसी तरह दूसरे (वेदना आदि) चार स्कधोंके वारेमें भी जानोगे।

"५० ये स्कध न इच्छासे, न कालसे, न प्रकृतिसे, न स्वभावसे, न ईश्वरसे, और न विना हेतुके पैदा होते है, समझो कि वे अविद्या और तृष्णासे उत्पन्न होते है।

"५१. जानो कि धार्मिक क्रिया-कर्म (=शीलव्रतपरामर्श) झूठा दर्शन (=सत्कायदृष्टि) और सशय (विचिकित्सा)मे आसक्ति तीन वेडियाँ (=सयोजन)[1] है। "

नागार्जुनका दर्शन—शून्यवाद—वास्तविकताका अपलाप करता है। दुनियाको शून्य मानकर उसकी समस्याओंके अस्तित्वसे इन्कार करनेकेलिए इससे वढकर दर्शन नही मिलेगा? इसीलिए आश्चर्य

[1] देखो संगीति-परियायसुत्त (दी० नि०, ३।१०) "बुद्धचर्या", पृष्ठ ५९०

नही, यदि ऐसा दार्शनिक सम्राट् यज्ञश्री गौतमीपुत्रका घनिष्ट मित्र (? सुहृद्) था।

४. योगाचार और दूसरे बौद्ध-दर्शन माध्यमिक और योगाचार महायानसे सबध रखनेवाले दर्शन है, जब कि सर्वास्तिवाद और सौत्रान्तिक हीनयान (=स्थविरवाद)से सबंध रखते है। इन चारो बौद्ध दर्शनोको यदि आकाशसे धरतीकी ओर लाये तो वह इस प्रकार मालूम होते हैं—

वाद	नाम	आचार्य
१. शून्यवाद	माध्यमिक	नागार्जुन, आर्यदेव, चद्रकीर्ति, भाव्य, बुद्धपालित
२. विज्ञानवाद	योगाचार	असग, वसुवधु, दिङ्-नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित
३ वाह्य-अर्थवाद	सौत्रान्तिक	
४. वाह्य-आभ्यन्तर-अर्थवाद	सर्वास्तिवाद	सघभद्र, वसुवधु (का अभिधर्मकोश)

योगाचार-दर्शनके मूल बीज वैपुल्यसूत्रोमे मिलते है। उसके लंकावतार, सन्धि-निर्मोचन, आदि सूत्र वाह्य जगत्के अस्तित्वसे इन्कार करते हुए विज्ञान (=अभौतिक तत्त्व, मन)को एकमात्र पदार्थ मानते है। "जो क्षणिक नही वह सत् ही नही" इस सूत्रका अपवाद बौद्धदर्शनमें हो नही सकता, इसलिए योगाचार विज्ञान भी क्षणिक है। दूसरी कितनीही विचार-धाराओकी भाँति योगाचारके प्रथम प्रवर्तकके वारेमे भी हमें कुछ नही मालूम है। चौथी सदी तक यह दर्शन जिस किसी तरह चलता रहा, किन्तु चौथी सदीके उत्तरार्द्धमें असग और वसुवंधु दो दार्शनिक भाई पेशावरमे पैदा हुए, जिनके प्रौढ ग्रंथोके कारण यह दर्शन अत्यन्त प्रवल और प्रसिद्ध हो गया।

योगाचार योगावचर (=योगी) शब्दसे निकला है, जो कि पुराने पिटकमे भी मिलता है, किन्तु यहाँ यह दार्शनिक सम्प्रदायके नामके तौर पर प्रयुक्त होता है। इस नामके पड़नेका एक कारण यह भी है कि योगाचार

दर्शन-प्रतिपादक आर्य असगका मौलिक महान् ग्रथ "योगाचारभूमि"[1] है। असगके वारेमे हम आगे कहेंगे। यहाँ नागार्जुन और उनसे पहिले जैसा विज्ञानवाद माना जाता था और जिसपर गधार-प्रवासी यूनानियो द्वारा अफलातूनी दर्शनका प्रभाव जरूर पडा था, उसके वारेमें कुछ कहते है।

"**आलय-विज्ञान** (समुद्र) से प्रवृत्तिविज्ञानकी तरग उत्पन्न होती है।"[2]

विश्वके मूल तत्त्वको इस दर्शनकी परिभाषामे आलयविज्ञान कहा गया है। विज्ञान-समुद्रसे जो पाँचो इन्द्रियाँ और मनके—ये छै विज्ञान उत्पन्न होते है, उन्हे प्रवृत्ति-विज्ञान कहते है।[3]—

"जैसे पवन-रूपी प्रत्यय (=हेतु) से प्रेरित हो समुद्रसे नाचती हुई तरगे पैदा होती है, और उनके (प्रवाहका) विच्छेद नही होता। उसी तरह विपय-रूपी पवनसे प्रेरित चित्र-विचित्र नाचती हुई विज्ञान-तरगोके साथ आलय समुद्र सदा क्रियापरायण रहता है।"

अर्थात् भीतरी ज्ञेय पदार्थ (=अभौतिक विज्ञान) पदार्थ है, वही वाहरकी तरह दिखलाई पडता है। स्कध, प्रत्यय (=हेतु), अणु, भौतिक तत्त्व, सभी विज्ञान मात्र है। यह आलयविज्ञान भी प्रतीत्य-समुत्पन्न (विच्छिन्न प्रवाहके तौरपर उत्पन्न), क्षण-क्षण परिवर्त्तनशील है। क्षणिकताके कारण उसे हर वक्त नया रूप धारण करते रहना पडता है, जिसके ही कारण यह जगत्-वैचित्र्य है।

सर्वास्तिवाद का वही सिद्धान्त है, जिसे हम वुद्धके दर्शनमें वतला आये है, वह वाह्य रूप, आन्तरिक विज्ञान दोनोकी प्रतीत्य-समुत्पन्न सत्ताको स्वीकार करता है।

सौत्रान्तिक अपनेको वुद्धके सूत्रान्तो (सूत्रो या उपदेशो) का अनुयायी वतलाते है। वह वाह्य विज्ञानवादसे उलटे वाह्यार्थवादी है अर्थात् क्षणिक रूप ही मौलिक तत्त्व है।

---

[1] देखो "दर्शनदिग्दर्शन", पृष्ठ ७०४–३७ [2] लंकावतारसूत्र ५१
[3] वही

पंचम अध्याय

बौद्ध दर्शनका चरम विकास (६०० ई०)

असंग (३५० ई०)

भारतीय दर्शनको अपने अन्तिम विकासपर पहुँचानेके लिए पहिला जबर्दस्त प्रयत्न असग और वसुबधु दो पेशावरी पठान भाइयोने किया। बडे भाई असंगने योगाचार भूमि[1], उत्तरतन्त्र[1] जैसे ग्रन्थोको लिखकर विज्ञानवादका समर्थन किया। छोटे भाई वसुबन्धुकी प्रतिभा और भी बहु-मुखी थी। उन्होने एक ओर वैभाषिक-सम्मत तथा बुद्धके दर्शनसे बहु-सम्मत अपने सर्वोत्कृष्ट ग्रथ अभिधर्मकोष तथा उसपर एक बड़ा भाष्य[1] लिखा; दूसरी ओर विज्ञानवादके सबंधमे विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिकी विंशिका (बीस कारिकाये) और त्रिंशिका (तीस कारिकायें) लिख अपने बड़े भाईके कामको और सुव्यवस्थित रूपमे दार्शनिकोंके सामने पेश किया। तीसरा काम उनका सबसे महत्त्वपूर्ण था वादविधान नामक न्याय-ग्रथको लिख, भारतीय न्यायशास्त्रको नागार्जुनकी पैनी दृष्टिसे मिली प्रेरणाको और नियमबद्ध करना, और सबसे बडी बात थी "भारतीय मध्ययुगीन न्यायके पिता" दिग्नाग जैसे शिष्यको पढाकर अब तकके किये गये प्रयत्नको एक बड़े प्रवाहके रूपमे ले जानेके लिए तैयार करना।

बौद्धोंके विज्ञानवाद—क्षणिक विज्ञानवाद—के शंकराचार्य और उनके दादा गुरु गौडपाद कितने ऋणी है, यह हम बतलानेवाले है। वस्तुत गौड-

---

[1] ये दोनों ग्रंथ चीनी और तिब्बती अनुवादके रूपमें पहिले भी मौजूद थे, किन्तु उनके संस्कृत मूल मुझे तिब्बतमें मिले, उनकी फोटो और लिखित प्रतियाँ भारत आ चुकी है। [1] अभिधर्मकोशको अपनी वृत्तिके साथ मै पहिले संपादित कर चुका हूँ।

पादकी माडूक्य-कारिका "अलात शान्ति प्रकरण" प्रच्छन्न नही प्रकट रूपमे एक बौद्ध विज्ञानवादी ग्रथ है। बौद्ध विज्ञानवाद और असगका एक दूसरे-के साथ कितना सबध है, यह इसीसे मालूम हो सकता है, कि विज्ञानवाद अपने नामकी अपेक्षा "योगाचार दर्शन"के नामसे ज्यादा प्रसिद्ध है, और योगाचार शब्द असगके सबसे बडे ग्रथ "योगाचार-भूमि"से लिया गया है।

१—जीवनी

असगका जन्म पेशावरके एक ब्राह्मण (पठान) कुलमे हुआ था। उनके छोटे भाई वसुबधु बौद्ध जगत्के प्रमुख दार्शनिकोमे थे। वसुबधुके कितने ही मौलिक ग्रथ कालकवलित हो गये। उनका अभिधर्मकोश बहुत प्रौढ ग्रथ है, मगर वह सर्वास्तिवाद दर्शनका एक सुश्रृखलित विवेचन मात्र है, इसलिए हमने उसके बारेमे विशेष नही लिखा। वसुबधुने अभिधर्मकोश-पर विस्तृत भाष्य लिखा है, जो सौभाग्यसे तिब्बतकी यात्राओमे मुझे सस्कृतमें मिल गया, और प्रकाशित होनेकी प्रतीक्षामे फोटो रूपमे पडा है। अपने बडे भाई असगके विज्ञानवादपर "विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि" नामके "विंशिका" और "त्रिंशिका" नामसे बीस और तीस कारिकावाले दो प्रकरण भी मिलकर प्रकाशित हो चुके है। वसुबधु "मध्यकालीन न्याय-शास्त्र"के पिता दिग्नागके गुरु थे, और उन्होने स्वय भी "वादविधान" नामसे न्यायपर एक ग्रथ लिखा था, किन्तु शिष्यकी प्रतिभाके सामने गुरुकी कृतियाँ ढँक गई। वसुबधु समुद्रगुप्तके पुत्र चद्रगुप्त (विक्रमादित्यके) अध्यापक रह चुके थे, और इस प्रकार वह ईसवी चौथी शताब्दीके उत्तरार्धमे मौजूद थे।[1]

असगकी जीवनीके बारेमे हम इससे अधिक नही जानते कि वह योगाचार दर्शनके प्रथम आचार्य थे, कई ग्रथोके लेखक, वसुबधुके बडे भाई और पेशावरके रहनेवाले थे। वह ३५०मे जरूर मौजूद रहे होगे। यह समय नागार्जुनसे पौने दो सदी पीछे पडता है। नागार्जुनके ग्रथ भारतीय न्याय-शास्त्रके प्राचीनतम ग्रंथ है—जहाँ तक अभी हमारा ज्ञान जाता है—लेकिन,

---

[1] देखो मेरी "वादन्याय" और "अभिधर्मकोश"की भूमिकाएँ।

नागार्जुनको असंग-वसुवधुसे मिलनेवाली कड़ी उसी तरह हमें मालूम नही है, जिस तरह यूनानी दर्शनके कितने ही वादोको भारतीय दर्शनो तक सीधे पहुँचनेवाली कडियाँ अभी उपलब्ध नही हुई है। असगको वादशास्त्र (= न्याय)का काफी परिचय था, यह हमे "योगाचार-भूमि"से पता लगता है।

२–असंगके ग्रंथ

महायानोत्तर तंत्र, सूत्रालकार, योगाचार-भूमि-वस्तुसग्रहणी, बोधि-सत्त्व-पिटकाववाद ये पाँच ग्रथ अभी तक हमे असगकी दार्शनिक कृतियोमे मालूम है, इनमे पिछले दोनोका पता तो "योगाचार-भूमि"से ही लगा है। पहिले तीनो ग्रथोके तिब्बती या चीनी अनुवादोका पहिलेसे भी पता था।

योगाचार-भूमि—असगका यह विशाल ग्रथ निम्न सत्रह भूमियोमे विभक्त है—

१. विज्ञान भूमि
२. मन भूमि
३. सवितर्क-सविचारा भूमि
४. अवितर्क-विचारमात्रा भूमि
५ अवितर्क-अविचारा भूमि
६. समाहिता भूमि
७. असमाहिता भूमि
८ सचित्तका भूमि
९ अचित्तका भूमि
१० श्रुतमयी भूमि
११. चिन्तामयी भूमि
१२. भावनामयी भूमि
१३. श्रावक भूमि[1]
१४ प्रत्येकबुद्ध भूमि
१५ बोधिसत्त्व भूमि[1]
१६. सोपधिका भूमि
१७. निरुपधिका भूमि[2]

---

[1] श्रावक-भूमि और बोधिसत्त्व-भूमि तिब्बतमें मिली "योगाचारभूमि" की तालपत्र पोथी (दसवीं सदी)में नहीं है। बोधिसत्त्वभूमिको प्रो० उ० वोगीहारा (जापान १९३०) प्रकाशित कर चुके है। अलग भी मिल चुकी है।

[2] "योगाचारभूमि"में आचार्यने किन-किन विषयोंपर विस्तृत विवेचन किया है। यह निम्न विषयसूची से मालूम हो जायेगा:—

भूमि १

§ १. (पाँच इन्द्रियोंके) विज्ञानोंकी भूमियाँ।

§ २. पाँच इन्द्रियोंके विज्ञान (=ज्ञान

१. आँखका विज्ञान

(१) विज्ञानोंके स्वभाव

(२) उनके आश्रय (सहभू, समनन्तर, बीज)

(३) उनके आलंबन (Objects) वर्ण, संस्थान, विज्ञप्ति (=क्रिया)

(४) उनके सहाय (=सहयोगी)

(५) कर्म

(क) अपने विषयके आलंबनकी क्रिया (=विज्ञप्ति)

(ख) अपने स्वरूप (=स्वलक्षण)की विज्ञप्ति

(ग) वर्तमान कालकी विज्ञप्ति

(घ) एक क्षणकी विज्ञप्ति

(ङ) मनवाले विज्ञानकी अनुवृत्ति (=पीछे आना)

(च) भलाई बुराईकी अनुवृत्ति

२. कानका विज्ञान (स्वभाव आदिके साथ

३. घ्राणका विज्ञान (,,)

४. जिह्वाका विज्ञान (,,)

५. काया (=त्वक् इन्द्रिय)का विज्ञान (स्वभाव आदिके साथ)

§ ३. पाँचों विज्ञानोंका उत्पन्न होना

§ ४. पाँचों विज्ञानोंके साथ संबद्ध चित्त

§ ५. पाँचों विज्ञानोंके सहाय आदिकी 'एक काफिलेवाला' आदि होनेकी उपमा।

भूमि २

मनकी भूमि

§ १. मनके स्वभाव आदि

१. मनका स्वभाव

२. मनका आश्रय

३. मनका आलंबन (=विषय)

४. मनका सहाय (=सहयोगी)

५. मनके विशेष कर्म

(१) आलंबन विज्ञप्ति

(२) विशेष कर्म

(क) विषयकी विकल्पना

(ख) उपनिध्यान
(ग) मत्त होना
(घ) उन्मत्त होना
(ङ) सोना
(च) जागना
(छ) मूच्छित होना
(ज) मूर्च्छासे उठना
(झ) कायिक, वाचिक काम कराना
(ञ) विरक्त होना
(ट) विरागका हटना
(ठ) भली अवस्थाकी जड़का कटना
(ड) भली अवस्थाकी जड़का जुड़ना

२. मनका शरीरसे च्युति और उत्पत्ति
(१) शरीरसे च्युति (= छूटना, मृत्यु)
(२) एक शरीरसे दूसरे शरीरके बीचकी अवस्थाका सूक्ष्मकायिक मन (=अन्तराभव)

३. दूसरे शरीरमें उत्पत्ति
(१) उत्पत्तिवाले स्थानमें जानेकी अभिलाषा
(२) गर्भमें प्रवेश करना
(क) गर्भाधानमें सहायक
(ख) गर्भाधानमें बाधक
(a) योनिका दोष
(b) बीजका दोष
(c) पुरविले कर्मका दोष
(ग) अन्तराभवकी दृष्टि-में परिवर्तन
(घ) पापी और पुण्यात्मा-के जन्मकुल
(ङ) गर्भाशयमें आलय-विज्ञान (-प्रवाह) जुड़नेका ढंग
(च) गर्भकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ
(a) कलल-अवस्था
(b) अर्बुद-अवस्था
(c) पेशी ,,
(d) घन ,,
(e) प्रशाख ,,
(f) केश - रोम - नखकी अवस्था
(g) इन्द्रियोंका प्रकट होना
(h) स्त्री - पुरुष - लिंग प्रकट होना

भूमि ३, ४, ५

§ ३. योनिशोमनस्कारकी प्रज्ञप्तिसे
- १. अधिष्ठान
- २. वस्तु
- ३. एषणा
- ४. परिभोग
- ५. प्रतिपत्ति

§ ४. अयोनिशोमनस्कार प्रज्ञप्तिसे
- १. दूसरोंके वाद (=मत)
  - (१) सद्वाद (सांख्य)
  - (२) अनभिव्यक्ति-वाद (सांख्य और व्याकरण)
  - (३) द्रव्यसद्वाद (सर्वास्ति-वादी)
  - (४) आत्मवाद (उपनिषद्)
  - (५) शाश्वतवाद (कात्यायन)
  - (६) पूर्वकृत हेतुवाद (जैन)
  - (७) ईश्वरादि-कर्त्तावाद (नैयायिक)
  - (८) हिंसाधर्मवाद (याज्ञिक और मीमांसक)
  - (९) अन्तानन्तिकवाद
  - (१०) अमराविक्षेपवाद (वेल-ट्ठिपुत्त)
  - (११) अहेतुकवाद (गोशाल)
  - (१२) उच्छेदवाद (लोका-यत)
  - (१३) नास्तिकवाद (केश-कम्बल)
  - (१४) अग्रवाद (ब्राह्मण)
  - (१५) शुद्धिवाद (,,)
  - (१६) ज्योतिषशकुन (=कौ-तुक-मंगल) वाद

§ ५. संक्लेश-प्रज्ञप्तिसे
- १. क्लेश (=चित्तके मल)
  - (१) क्लेशोंके स्वभाव
  - (२) क्लेशोंके भेद
  - (३) क्लेशोंके हेतु
  - (४) क्लेशोंकी अवस्था
  - (५) क्लेशोंके मुख
  - (६) क्लेशोंकी अतिशयता
  - (७) क्लेशोंके विपर्यास
  - (८) क्लेशोंके पर्याय
  - (९) क्लेशोंके आदीनव
- २. कर्म
- ३. जन्म
  - (१) कर्मोंके भेद
  - (२) कर्मोंकी प्रवृत्ति

§ ६. प्रतीत्यसमुत्पाद

भूमि ६
(समाहिता भूमि)

§ १. ध्यान
- १. नाम-गिनाई

(१) ध्यान
(२) विमोक्ष
(३) समाधि
(४) समापत्ति

२. व्यवस्थान

§ २. विमोक्ष

§ ३. समाधि

§ ४. समापत्ति

भूमि ७

(असमाहिता भूमि)

भूमि ८, ६

अचित्तका भूमि

भूमि १०

सचित्तका भूमि

(श्रुतमयी भूमि)

पाँच विद्याए-

§ १. अध्यात्मविद्या

१. वस्तुप्रज्ञप्ति
(१) सूत्र वस्तु
(२) विनय वस्तु
(३) मातृका वस्तु

२. संज्ञाभेद प्रज्ञप्ति
(१) पद
(२) भ्रान्ति
(३) प्रपच
(४) स्थिति
(५) तत्त्व
(६) शुभ
(७) वर
(८) प्रज्ञम
(९) प्रकृति
(१०) युक्ति
(११) सकेत
(१२) अभिसमय

३. बुद्ध-शासनके अर्थमें प्रज्ञप्ति

४. बुद्ध-वचनके ज्ञेयोंका अधिष्ठान

§ २. चिकित्सा विद्या

§ ३. हेतु (=वाद) विद्या

१. वाद
(१) वाद
(२) प्रतिवाद
(३) विवाद
(४) अपवाद
(५) अनुवाद
(६) अववाद

२. वादके अधिकरण

३. वादके अधिष्ठान (दम)
(१) दो प्रकारके साध्य
(२) आठ प्रकारके साधन
(क) प्रतिज्ञा
(ख) हेतु

793

(ग) उदाहरण
(घ) सारूप्य
(a) लिंगमें सादृश्य
(b) स्वभावमें सादृश्य
(c) कर्ममें सादृश्य
(d) धर्ममें सादृश्य
(e) हेतुफल (=कार्य-कारण)में सादृश्य
(ङ) वैरूप्य
(च) प्रत्यक्ष
(a) अ-परोक्ष
(b) अनभ्यूहित अनभ्यूह्य
(c) अ-भ्रान्त
(भ्रान्तियाँ—संज्ञा, संख्या, संस्थान, वर्ण, कर्म, चित्त दृष्टिसे संबंध रखनेवाली)
(प्रत्यक्षके भेद—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मन-प्रत्यक्ष, लोक-प्रत्यक्ष, शुद्ध (=योगि)-प्रत्यक्ष
(छ) अनुमान
(a) लिंगसे
(b) स्वभावसे
(c) कर्मसे
(d) धर्मसे
(e) हेतु-फल (=कार्य-कारण)से
(ज) आप्तागम (=शब्द)

४. वादके अलंकार
(१) अपने और पराये वाद की अभिन्नता
(२) वाक्-कर्म सम्पन्नता (=भाषण-पटुता)
(क) अग्राम्य भाषण
(ख) लघु (=मित)-भाषण
(ग) ओजस्वी भाषण
(घ) पुर्वापरसंबद्ध भाषण
(ङ) अच्छे अर्थोंवाला भाषण
(३) विशारद होना
(४) स्थिरता
(५) दाक्षिण्य (=उदारता)

५. वादका निग्रह
(१) कथात्याग
(२) कथामाद
(३) कथादोष
(क) बुरा वचन
(ख) संरब्ध (=कुपित) वचन
(ग) अ-गमक वचन

(घ) अ-मिति वचन
(ङ) अनर्थ-युक्त वचन
(च) अ-काल वचन
(छ) अ-स्थिर वचन
(ज) अ-दीप्त वचन
(झ) अ-प्रवद्ध वचन
६. वाद-निःसरण
(१) गुणदोष-परीक्षा
(२) परिषत्-परीक्षा
(३) कौशल्य (=नैपुण्य)-परीक्षा
७. वादमें उपकारक बातें
§ ४. शब्द-विद्या
१. धर्म-प्रज्ञप्ति
२. अर्थ-प्रज्ञप्ति
३. पुद्गल-प्रज्ञप्ति
४. काल-प्रज्ञप्ति
५. संख्या-प्रज्ञप्ति
६. अधिकरण-प्रज्ञप्ति
§ ५. शिल्प-कर्मस्थान विद्या

भूमि ११
(चिन्तामयी भूमि)

§ १. स्वभावशुद्धि
§ २. ज्ञेयों (=प्रमेयों)का संचय
१. सद् (वस्तु)
(१) स्वलक्षण सत्
(२) सामान्यलक्षण सत्
(३) संकेतलक्षण सत्
(४) हेतुलक्षण सत्
(५) फल (=कार्य)-लक्षण सत्
२. असद् (वस्तु)
(१) अनुत्पन्न असत्
(२) निरुद्ध असत्
(३) अन्योन्य असत्
(४) परमार्थ असत्
३. अस्तित्व
४. नास्तित्व
§ ३. धर्मोंका संचय
१. सूत्रार्थोंका संचय
२. गाथार्थोंका संचय
(यहां पिटकोंकी सैकड़ो गाथा--श्रोका संग्रह है)

भूमि १२
(भावनामयी भूमि)

§ १. स्थानतः संग्रह
१. भावनाके पद
२. भावना-उपनिषत्
३. योग-भावना
४. भावना-फल
§ २. अंगतः संग्रह
१. अभिनिर्वृत्ति-संपद्

२. सद्धर्म श्रवण-संपद्
  (१) ठीक उपदेश करना
  (२) ठीक सुनना
  (३) निर्वाण-प्रमुखता
  (४) चित्त-मुक्तिको परिपक्व बनानेवाली प्रज्ञाका परिपाक
  (५) प्रतिपक्ष भावना

भूमि १३
(श्रावक भूमि)

भूमि १४
(प्रत्येकबुद्ध भूमि)

§ १. गोत्र
  १. मन्द-रजवाला गोत्र
  २. मन्द-करुणावाला गोत्र
  ३. मध्य-इन्द्रियवाला गोत्र

§ २. मार्ग

§ ३. समुदागम
  १. गैंडेकी सींग जैसा अकेला विहरनेवाला
  २. जमातके साथ विहरनेवाला

§ ४. चार

भूमि १५
(बोधिसत्त्व भूमि)

भूमि १६
(उपाधि-सहिता भूमि)
तीन प्रज्ञप्तियोंसे

१. भूमि-प्रज्ञप्ति
२. उपशम-प्रज्ञप्ति
३. उपधि-प्रज्ञप्ति
  (१) प्रज्ञप्ति उपधि
  (२) परिग्रह उपधि
  (३) स्थिति प्रज्ञप्ति
  (४) प्रवृत्ति प्रज्ञप्ति
  (५) अन्तराय प्रज्ञप्ति
  (६) दुःख प्रज्ञप्ति
  (७) रति प्रज्ञप्ति
  (८) अन्य प्रज्ञप्ति

भूमि १७
(उपाधि-रहिता भूमि)

१. भूमि-प्रज्ञप्तिसे
२. निर्वृति-प्रज्ञप्तिसे
  (१) व्युपशमा निर्वृति
  (२) अव्याबाध-निर्वृति
३. निर्वृति-पर्यायविज्ञप्तिसे

"योगाचार भूमि" (संस्कृत) को महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य सम्पादित कर रहे हैं।

३—दार्शनिक विचार

असग क्षणिक विज्ञानवादी थे। यह विज्ञानवाद असगके पहिले भी "लकावतार सूत्र", "सधिनिर्मोचन सूत्र" जैसे महायान सूत्रोमे मौजूद था। इन सूत्रोको बुद्धवचन कहा जाता है, मगर अधिकाश महायान-सूत्रोकी भाँति यह बुद्धके नामपर बने पीछेके सूत्र है, लकावतार सूत्रका, बुद्धने दक्षिणमें लका (=सीलोन) द्वीपके पर्वत (समन्तकूट?)पर उपदेश दिया था। वस्तुत उसे दक्षिण न ले जा उत्तरमे गधारकी पर्वतावलीमे ले जाना अधिक युक्तियुक्त है। बौद्धोका विज्ञानवाद बुद्धके "सव्व अनिच्च" (=सब अनित्य है) या क्षणिकवादका अफ्लातूँके (स्थिर) विज्ञान-वादके साथ मिश्रण मात्र है, और यह मिश्रण उसी गधारमें किया गया, जहाँ यूनानियोकी कलाके मिश्रण द्वारा गधार मूर्तिकलाने अवतार लिया। विज्ञानवान विज्ञानको ही परमार्थतत्त्व मानता है, यह बतला आये है, और यह भी कि वह पाँच इन्द्रियोके पाँच विज्ञानो तथा छठे मन-विज्ञानके अति-रिक्त एक सातवे आलयविज्ञानको मानता है। यही आलयविज्ञान वह तरगित समुद्र है, जिससे तरगोकी भाँति विश्वकी सारी जड-चेतन वस्तुए प्रकट और विलीन होती रहती है।

यहाँ हम असगके दार्शनिक विचारोको उनकी योगाचार-भूमिके आधार पर देते है। स्मरण रहे "योगाचार-भूमि" कोई सुसबद्ध दार्शनिक ग्रथ नही है, वह बुद्धघोषके "विसुद्धिमग्ग" (=विशुद्धिमार्ग)की भाँति ज्यादा-तर बौद्ध सदाचार, योग तथा धर्मतत्त्वका विस्तृत विवेचन है। असगने अपने इस तरुण समकालीनकी भाँति बुद्धकी किसी एक गाथाको आधार बनाकर अपने ग्रथको नही लिखा है। "गाथार्थ-प्रविचय"[1]मे जरूर १७८ गाथाए—हीनयान महायान दोनो पिटकोकी—एकत्रित कर दी है। बुद्धघोषकी भाँति असगने भी सूत्रोकी भाषा-शैलीका इतना अधिक अनुकरण किया है, कि

[1] योगाचारभूमि (श्रुतमयीभूमि १०)

वाज वक्त भ्रम होने लगता है कि, हम अभिसस्कृत सस्कृतके कालमे न हो पिटक-कालकी किसी पुस्तकको सस्कृत-शब्दान्तरके रूपमें पढ रहे हैं। बुद्धघोष अपने ग्रथको पालीमें लिख रहे थे, जिसे वसुबधु-कालिदास-कालीन सस्कृतकी भाँति सस्कृत वननेका अभी मौका नही मिला था, इसलिए बुद्धघोष पालिकी भाषा-शैलीका अनुकरण करनेके लिए मजबूर थे; मगर असगको ऐसी कोई मजबूरी न थी; न वह अपनी कृतिको बुद्धके नामसे प्रकट करनेके लिए ही इच्छुक थे। फिर, उन्होने क्यो ऐसी शैलीको स्वीकार किया, जिसमे किसी बातको सक्षेपमें कहा ही नही जा सकता? सभव है, सूत्रोकी शैलीसे परिचित अपने पाठकोके लिए आसान करनेके ख्यालसे उन्होने ऐसा किया हो।

हम यहाँ "योगाचार भूमि"का पूरा सक्षेप नही देना चाहते, इसलिए उसमे आये असगके ज्ञेय (=प्रमेय), विज्ञानवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद हेतु (=वाद) विद्या, परवाद-खडन और द्रव्य-परमाणु-सवधी विचारोको देने ही पर सन्तोष करते हैं।

(१) ज्ञेय (=प्रमेय) विषय

ज्ञेय[1] कहते हैं परीक्षणीय पदार्थको। ये चार प्रकारके होते है, सत् या भाव रूप, दूसरा असत् या अभाव रूप—अस्तित्व और नास्तित्व।

(क) सत्—यह पाँच प्रकारका होता है, (१) स्वलक्षण (=अपने स्वरूपमें) सत्; (२) सामान्यलक्षण (=जाति आदिके रूपमे) सत्, (३) संकेतलक्षण (=सकेत किये रूपमे) सत्, (४) हेतु लक्षण (=इष्ट-अनिष्ट आदिके हेतुके रूपमे) सत्; (५) फल लक्षण (=परिणामके रूपमें) सत्।

(ख) असत्—यह भी पाँच प्रकारका है। (१) अनुत्पन्न (=जो पदार्थ उत्पन्न नही हुआ, अतएव) असत्, (२) निरुद्ध (=जो उत्पन्न

---

[1] 'योगाचारभूमि' (चिन्तामयी भूमि ११)

हो कर निरुद्ध या नष्ट हो गया, अतएव) असत्; (३) अन्योन्य (=गाय घोडा नहीं घोडा गाय नहीं, इस तरह एक दूसरेके रूपमें) असत्, (४) परमार्थ (=मूलमें जानेपर) असत्; और (५) (=वन्ध्या-पुत्रकी भाँति) अत्यन्त असत्।

(ग) अस्तित्व—यह भी पाँच प्रकारका होता है—(१) परि-निष्पन्नलक्षण—जो अस्तित्व कि परमार्थतः है (जैसे कि असगके मतमें विज्ञान, भौतिकवादियोके मतमें मूल भौतिकतत्त्व), (२) परतन्त्रलक्षण अस्तित्व प्रतीत्यसमुत्पन्न ("अमुकके होनेके बाद अमुक अस्तित्वमें आता है") अस्तित्वको कहते है, (३) परिकल्पितलक्षण अस्तित्व है, सकेत (Convention) वश जिसको माना जाये, (४) विशेषलक्षण है काल, जन्म, मृत्यु आदिके सबबसे माना जानेवाला अस्तित्व, और (५) अवक्तव्यलक्षण अस्तित्व वह है, जिसे "हाँ" या "नही" मे दो टूक नही कहा जा सके (जैसे बौद्ध दर्शनमें पुद्गल=चेतनाको स्कन्धोसे न अलग कहा जा सकता, न एक ही कहा जा सकता)।

(घ) नास्तित्व—यह पाँच प्रकारका होता है—(१) परमार्थरूपेण नास्तित्व, (२) स्वतन्त्ररूपेण नास्तित्व, (३) सर्वेसर्वारूपसे नास्तित्व, (४) अविशेष रूपसे नास्तित्व और (५) अवक्तव्य रूपसे नास्तित्व।

परमार्थतः सत्, असत्, अस्तित्व या नास्तित्वको बतलानेके लिए असगने परमार्थ-गाथाके नामसे महायान-सूत्रोकी कितनी ही गाथाएँ उद्धृत की है। इनमें (१) वस्तुओके अपने भीतर किसी प्रकारके स्थिर तत्त्वकी सत्ताको इन्कार करते हुए, उन्हें शून्य (=सार-शून्य) कहा गया है, बाह्य और मानस तत्त्वोको सार-शून्य कहते हुए उन्हे क्षणिक (=क्षण क्षण विनाशी) बतलाया गया है, और यह भी कि (३) कोई (ईश्वर आदि) जनक और नाशक नही है, बल्कि जगतीके सारे पदार्थ स्वरस (=स्वभावत) भगुर है। रूप (Matter), वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धोमे स्थिरताका भास सिर्फ भ्रममात्र है, वस्तुत वे फेन, बुलबुले, मृगमरीचिका, कदली-गर्भ तथा

मायाकी भाँति निस्सार है ।[1]—

"आध्यात्मिक (=मानसजगत) शून्य है, बाह्य भी शून्य है ।

ऐसा कोई (आत्मा) भी नही है, जो शून्यताको अनुभव करता ॥३॥

अपना (कोई) आत्मा ही नही है, (यह आत्माकी कल्पना) उलटी कल्पना है। यहाँ कोई सत्त्व या आत्मा नही है ये (सारे) धर्म (=पदार्थ) अपने ही अपने कारण है ॥४॥

सारे सस्कार (=उत्पन्न पदार्थ) क्षणिक हैं।....॥५॥....

उसे कोई दूसरा नही जन्माता और न वह स्वय उत्पन्न होता है। प्रत्ययके होनेपर पदार्थ (=भाव) पुराने नही बिल्कुल नये-नये जनमते है ॥८॥ न दूसरा इसे नाश करता है, और न स्वय नष्ट होता है। प्रत्यय (=पूर्वकारण)के होनेपर (ये पदार्थ) उत्पन्न होते है। उत्पन्न हो स्वरस ही क्षणभगुर है ॥९॥... रूप (=भौतिकतत्त्व) फेनके पिंड समान है, वेदना (स्कन्ध) बुद्बुद जैसी ॥१७॥ संज्ञा (मृग)-मरीचिका सदृशी है, संस्कार कदली जैसे, और विज्ञानको माया-समान सूर्यवशज (=बुद्ध)ने बतलाया है ॥१८॥"

(२) विज्ञानवाद

(क) आलयविज्ञान—बाह्य-आभ्यन्तर, जड़-चेतन—जो कुछ जगत् है, सब विज्ञानका परिणाम है। विज्ञान-समष्टिको आलयविज्ञान, कहते है, इसीसे वीचि-तरगकी भाँति जगत् तथा उसकी सारी वस्तुएँ उत्पन्न हुई है। इस विश्व-विज्ञान[2] या आलय-विज्ञानसे जैसे जड़-जगत् उत्पन्न हुआ, उसी तरह, वैयक्ति-ज्ञान (=प्रवृत्ति विज्ञान)—पाँचो इन्द्रियोके विज्ञान और छठाँ मन पैदा हुआ ।

(ख) पाँच, इन्द्रिय-विज्ञान—इन्द्रियोके आश्रयसे जो विज्ञान (=चेतना) पैदा होता है, वह इन्द्रिय-विज्ञान है। अपने आश्रयो चक्षु

[1] योगाचार-भूमि, (चिन्तामयी भूमि ११) [2] देखो, दर्शन०, पृष्ठ २४२

(=आँख) आदि पाँचो इन्द्रियोंके अनुसार, इन्द्रिय-विज्ञान भी पाँच प्रकारके होते हैं।—

(a) चक्षु-विज्ञान[1] (i) स्वभाव—चक्षु (=आँख) के आश्रय (=सहारे)से जो विज्ञान प्राप्त होता है, वह चक्षु-विज्ञान है। यह है चक्षु-विज्ञानका स्वभाव (=स्वरूप)।

(ii) आश्रय—चक्षु-विज्ञानके आश्रय तीन है चक्षु, जो कि साथ साथ अस्तित्वमे आता तथा विलीन होता है, अतएव सहभू आश्रय है; मन जो इस विज्ञान (की सन्तति)का बादमे आश्रय होता है, अतएव समनन्तर आश्रय है; रूप-इन्द्रिय, मन तथा सारे जगत्का बीज जिसमें मौजूद रहता है, वह सर्वबीजक आश्रय है आलय-विज्ञान। इन तीनो आश्रयोंमें चक्षु रूप (=भौतिक) होनेसे रूपी आश्रय है, और बाकी अरूपी।

(iii) आलंबन या विषय है—वर्ण (=रंग), संस्थान (=आकृति) और विज्ञप्ति (=क्रिया)। (a) वर्ण है—नील, पीत, लाल, सफेद छाया, धूप, प्रकाश, अन्धकार, मद्र, धूम, रज, महिका और नभ। (b) संस्थान है—लम्बा, छोटा, वृत्त, परिमंडल, अणु, स्थूल, सात, विसात, उन्नत और अवनत। (c) विज्ञप्ति है—लेना, फेंकना सिकोड़ना, फैलाना, ठहरना, बैठना, लेटना, दौड़ना इत्यादि।

(iv) सहाय—चक्षु-विज्ञानके साथ पैदा होनेवाले एक ही आलंबनके चैतसिक धर्म है।

(v) कर्म—छे है (१) स्वविषय-अवलंबी, (२) स्वलक्षण, (३) वर्तमान काल, (४) एक क्षण, (५) शुद्ध (=कुशल) अशुद्ध मनके विज्ञान कर्मके उत्थान, इन दो आकारोंसे अनुवृत्ति, (६) इष्ट या अनिष्ट फलका ग्रहण।

(b-c) श्रोत्र आदि विज्ञान—इसी तरह श्रोत्र, घ्राण जिह्वा और काया (=त्वक्) इन्द्रियोंके इन्द्रिय-विज्ञान हैं।

---

[1] योगाचार-भूमि (१)

(ग) **मन-विज्ञान**—यह छठा-विज्ञान है। इसके स्वभाव आदि हैं—

(a) **स्वभाव**—चित्त, मन और विज्ञान इसके स्वरूप (=स्वभाव) हैं। सारे बीजो (=मूल कारणो) वाला आश्रय स्वरूप आलय-विज्ञान चित्त है, (२) मन सदा अविद्या, "मैं आत्मा हूँ" इस दृष्टि, अस्मिमान और तृष्णा (=शोपनहारकी तृष्णा) इन चार क्लेशो (=चित्तमलो)से युक्त रहता है। (३) विज्ञान जो आलवन (=विषय) क्रियामे उपस्थित होता है।

(b) **आश्रय**—मन समनन्तर-आश्रय है, अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियोके विज्ञानोकी उत्पत्ति हो जानेके अनन्तर वही इन विज्ञानोका आश्रय होता है, बीज-आश्रय तो वही सारे बीजोका रखनेवाला आलय-विज्ञान है।

(c) **आलम्बन**—मनका आलम्बन (=विषय) पाँचो इन्द्रियोके पाँचो विज्ञान—जिन्हें धर्म भी कहा जाता है—है।

(d) **सहाय**—मनके सहाय (=साथी) बहुत है, जिनमेसे कुछ हैं—मनस्कार, स्पर्श[1], वेदना, सज्ञा, चेतना, स्मृति, प्रज्ञा, श्रद्धा, लज्जा, निर्लज्जता, अलोभ, अद्वेष, अमोह, पराक्रम, उपेक्षा, अहिंसा, राग, सन्देह, क्रोध, ईर्ष्या, शठता, हिंसा आदि चैतसिक धर्म।

(e) **कर्म**—पहिला है अपने पराये विषयो सम्बन्धी क्रिया जो कि क्रमश छ आकारोमे प्रकट होती है—(१) मनकी प्रथम क्रिया है, विषयके सामान्य स्वरूपकी विज्ञप्ति, (२) फिर उसके तीनो कालोकी विज्ञप्ति, (३) फिर क्षणोके क्रमकी विज्ञप्ति, (४) फिर प्रवृत्ति या अनुवृत्ति शुद्ध-अशुद्ध धर्म-कर्मोकी विज्ञप्ति, (५) फिर इष्ट-अनिष्ट फलका ग्रहण; (६) दूसरे विज्ञान-समुदायोका उत्थापन। दूसरी तरहपर लेनेसे मनके विशेष (=वैशेषिक) कर्म होते हैं—(१) विषयकी विकल्पना; (२) विषयका उपनिध्यान (=चिन्तन); (३) मदमे होना; (४)

---

[1] Contact.

उन्मादमे होना, (५) निद्रामे जाना; (६) जागना, (७) मूर्च्छा खाना; (८) मूर्च्छासे उठना, (६) कायिक-वाचिक कर्मोका करना, (१०) वैराग्य करना, (११) वैराग्य छोडना, (१२) भलाईकी जडोको काटना, (१३) भलाईकी जडोको जोडना, (१४) शरीर छोडना (=च्युति) और (१५) शरीरमे आना (=उत्पत्ति)।

इन कर्मोमेसे कुछके होनेके बारेमें असग कहते है[1]—

पुरविले कर्मोसे अथवा शरीरधातुकी विषमता, भय, मर्म-स्थानमे चोट, और भूत-प्रेतके आवेशसे उन्माद (=पागलपन) होता है।

शरीरकी दुर्बलता, परिश्रमकी थकावट, भोजनके भारीपन आदि कारणोसे निद्रा होती है।

वात-पित्तके बिगाड, अधिक पाखाना और खूनके निकलनेसे मूर्च्छा होती है।

(मनकी च्युति तथा उत्पत्ति)

बौद्ध-दर्शन क्षण-क्षण परिवर्तनशील मनसे परे किसी भी नित्य जीवात्माको नही मानता। मरनेका मतलब है, एक शरीर-प्रवाह (=शरीर भी क्षण-क्षण परिवर्तनशील होनेसे वस्तु नहीं बल्कि प्रवाह है) मे एक मन-प्रवाह (=मन-सन्तति) का च्युत होना। उसी तरह उत्पत्तिका मतलब है, एक मन-प्रवाहका दूसरे शरीर-प्रवाहमें उत्पन्न होना।

(a) च्युति (=मृत्यु)—मृत्यु तीन कारणोसे होती है—आयुका खतम हो जाना, पुण्यका खतम हो जाना और शरीरकी विषम क्रिया यानी भोजनमे न मात्राका ख्याल, न पथ्यका ख्याल, दवा सेवन न करना, अकालचारी अब्रह्मचारी होना।

मृत्युके वक्त पापियोके शरीरका हृदयसे ऊपरी भाग पहिले ठंडा पड़ता है, और पुण्यात्माओंका निचला भाग, फिर सारा शरीर।

---

[1] योगाचार-भूमि (मन-भूमि १)

(अन्तराभव)—एक शरीरके, छोडने, दूसरे शरीरमें उत्पन्न होने तक जो बीचकी अवस्थामें मन (=जीव) रहता है, इसीको **अन्तराभव,** गन्धर्व, मनोमय कहते है। अन्तराभवको जैसे शरीरमे उत्पन्न होना होता है, वैसी ही उसकी आकृति होती है। वह अपने रास्तेमे सप्ताह भर तक लगा सकता है।

(b) **उत्पत्ति (=जन्म)**—मरणकालमे मन अपने भले बुरे कर्मोंको साकार देखता, और वैसा ही **अन्तराभवीय** रूप धारण करता है। मनके किसी शरीरमे उत्पन्न होनेके लिए तीन बातोंकी जरूरत है—माता ऋतुमती हो, पिताका बीज मौजूद हो और गधर्व (=अन्तराभव) उपस्थित हो, साथ ही योनि, बीज और कर्मके दोष बाधक न हो।

(गर्भमें लिंगभेद)—अन्तराभव माता-पिताकी मैथुन क्रियाको देखता है, उस समय यदि स्त्री बननेवाला होता है, तो उसकी पुरुषमे आसक्ति हो जाती है, और यदि पुरुष बननेवाला होता है, तो स्त्रीमें।

(i) **गर्भाधान**—मैथुनके पश्चात् घना बीज छूटता है, और रक्तका बिन्दु भी। बीज और शोणित बिन्दु दोनो माँकी योनि हीमे मिश्रित हो, एकपिंड बनकर उबलकर ठडे हो गए दूधकी भाँति स्थित होते है, इसी पिंडमें सारे बीजोंको अपने भीतर रखनेवाला **आलय-विज्ञान** समा जाता है, अन्तराभव उसमें आकर जुड जाता है। इसे गर्भकी कलल-अवस्था कहते है। कललके जिस स्थानमे विज्ञान जुडता है, वही उसका हृदय स्थान होता है। (१) कललसे आगे बढते हुए गर्भ और सात अवस्थाएँ धारण करता है—(२) अर्बुद, (३) पेशी, (४) घन, (५) प्रशाख, (६) केश-रोम-नखवाली अवस्था, (७) इन्द्रिय-अवस्था, और (८) व्यजन (=लिगभेद)-अवस्था। इनमे अर्बुद-अवस्थामें गर्भ दही जैसा होता है, वही मासावस्था तक न-पहुँचा अर्बुद होता है। पेशी शिथिल माससी होती है। कुछ और घना हो जानेपर घन, शाखाकी भाँति हाथ-पैर आदिका फूटना प्रशाख होता है।

(ii) **रंग आदि**—बुरे कर्मोंके कारण अथवा माताके अधिक

क्षार-लवण-रसवाले अन्न-पानके सेवनसे बालकके केशोंमें नानारंग होते हैं। बालकके केश काले-गोरे होनेमें पूर्व जन्मके अतिरिक्त निम्न कारण हैं—यदि माँ बहुत गर्मी, तथा धूप आदिका सेवन करती है, तो बच्चा काला होगा। यदि माँ बहुत ठंडे कमरेमें रहती है, तो लडका गोरा। बहुत गर्म खाना खानेपर लडका लाल होगा। चमड़ेमें दाद, कुष्ट आदि विकार माताके अत्यन्त मैथुन-सेवनसे होता है। माताके बहुत दौडने-कूदने, तैरनेसे बच्चेके अंग विकृत होते हैं।

कन्या होनेपर गर्भ माताकी कोखमें बाईं ओर होता है, और पुत्र होनेपर दाहिनी ओर। प्रसवके वक्त माताके उदरमें असह्य कष्ट देनेवाली हवा पैदा होती है, जो गर्भके सिरको नीचे और पैरको ऊपर कर देती है।

(३) अनित्यवाद और प्रतीत्यसमुत्पाद

"इसे कोई दूसरा नहीं जनमाता और न वह स्वयं उत्पन्न होता है प्रत्ययके होनेपर भाव (=वस्तुएँ) पुराने नहीं बिल्कुल नये-नये जनमते हैं। . . .प्रत्ययके होनेपर भाव उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हो स्वरस (=स्वतः) ही क्षणभंगुर हैं।"[1]

महायानसूत्रकी इन गाथाओं द्वारा असंगने बौद्ध-दर्शनके मूल सिद्धान्त अनित्यवाद या क्षणिकवादको बतलाया है। "क्षणिकके अर्थको लेकर प्रतीत्य-समुत्पाद[2]" कहते हुए उन्होंने क्षणिकवाद शब्दसे प्रतीत्य-समुत्पादको स्वीकार किया है।

प्रतीत्यसमुत्पाद—प्रतीत्य-समुत्पादका अर्थ करते हुए असंग कहते हैं[3]—प्रतिगमन करके (=खतम करके एक चीजको दूसरीकी उत्पत्ति प्रतीत्य-समुत्पाद है।) प्रत्यय अर्थात गतिशील अत्यय (=विनाश)के साथ उत्पत्ति प्रतीत्य-समुत्पाद है, जो क्षणिकके अर्थको लेकर होता है

---

[1] देखो पृष्ठ १६	[2] यो० भू० (भूमि ३,४,५) "प्रत्यय इत्य रात्ययसंगत उत्पादः प्रतीत्य-समुत्पादः क्षणिकार्थमधिकृत्य।"	[3] वहीं।

अथवा प्रत्यय अर्थात् अतीत (=खतम हुई चीज)से अपने प्रवाहमें उत्पाद। 'इसके होनेके वाद यह होता है', 'इसके उत्पादसे यह उत्पन्न होता है, दूसरी जगह नही', पहिलीके नष्ट-विनष्ट होनेपर उत्पाद इस अर्थमे। अथवा अतीत कालमे प्रत्यय (=खतम) हो जानेपर साथ ही उसी प्रवाहमें उत्पत्ति प्रतीत्य-समुत्पाद है।

और भी[1]—

"प्रतीत्य-समुत्पाद क्या है? नि सत्त्व (=अन्-आत्मा)के अर्थमे . . । नि सत्त्व होनेसे अनित्य है इस अर्थमे। अनित्य होनेपर गति-शीलके अर्थमें। गतिशील होनेपर परतन्त्रताके अर्थमें। परतन्त्र होनेपर निरीहके अर्थमे। निरीह होनेपर कार्य-कारण (=हेतु-फल) व्यवस्थाके खडित हो जानेके अर्थमे। (कार्य-कारण-)व्यवस्थाके खडित होनेपर अनुकूल कार्य-कारणकी प्रवृत्तिके अर्थमें। अनुरूप कार्य-कारणकी प्रवृत्ति होनेपर कर्मके स्वभावके अर्थमे।

अनित्य, दु ख, शून्य और नैरात्म्य (=नित्य आत्माकी सत्ताको अस्वीकार करना)के अर्थमे होनेसे भगवान् (बुद्ध)ने प्रतीत्य-समुत्पादके वारेमें कहा[2] "प्रतीत्य-समुत्पाद गम्भीर है।"

"(वस्तुएँ) प्रतिक्षण नये-नये रूपमें जीवन-यात्रा (=प्रवृत्ति) करती है। प्रतीत्य-समुत्पाद क्षणभगुर है।[3]

(४) हेतु-विद्या

असगने विद्या (=ज्ञान)को पाँच प्रकारकी माना है[4]—(१) अध्यात्मविद्या जिसमे बुद्धोक्त सूत्र, विनय और मातृका (=अभि-धर्म) अर्थात त्रिपिटक तथा उसमे वर्णित विषय सम्मिलित है; (२) चिकित्सा-

---

[1] वहीं कुछ पहिले। [2] संयुत्तनिकाय २।९२; दीघनिकाय २।५५

[3] "प्रतिक्षणं च नव लक्षणानिप्रवर्त्तन्ते। क्षणभंगुरश्च प्रतीत्य-समुत्पादः"।

[4] यो० भू० (श्रुतमयी भूमि १०)

विद्या या वैद्यकशास्त्र, (३) हेतुविद्या या तर्कशास्त्र, (४) शब्दविद्या जिससे धर्म, अर्थ, पुदगल (=जीव), काल, सख्या और सन्निलाधिकरण (=व्याकरणशास्त्र)का ज्ञान होता है, और शिल्पकर्मस्थानविद्या (=शिल्पशास्त्र)।

हेतुविद्याको कुछ विस्तारपूर्वक समझाते हुए असग उसे छ भागोमे बाँटते है—(१) वाद, (२) वाद-अधिकरण, (३) वाद-अधिष्ठान, (४) वाद-अलकार, (५) वाद-निग्रह और (६) वादेबहुकर (=वाद-उपयोगी) बाते।

(क) **वाद**—वाद बहस या सलाप छ प्रकारके होते है।

(a) **वाद**—जो कुछ मुँहसे बोला जाये, वह वाद है।

(b) **प्रवाद**—लोकश्रुति या जनश्रुति प्रवाद है।

(c) **विवाद**—भोगोके रखने-छीननेके सम्बन्धमे अथवा दृष्टि (=दर्शन) या विचारके सबधमें परस्पर विरोधी वाद (=वाग्युद्ध) विवाद है।[1]

(d) **अपवाद**—निन्दा।

(e) **अनुवाद**—धर्मके बारेमे उठे सन्देहोके दूर करनेके लिए जो बात की जाये।

(f) **अववाद**—तत्त्वज्ञान करानेके लिए किया गया वाद।

इनमे विवाद और अपवाद त्याज्य है, और अनुवाद तथा अववाद सेवनीय।

(ख) **वाद-अधिकरण**—वादके उपयुक्त अधिकरण या स्थान दो

---

[1] "कामेषु तद्यथा नट-नर्त्तक-लासक-हासकाद्युपसंहितेषु वा वैश्य जनोपसंहितेषु वा पुन. सदर्शनाय वा उपभोगाय वा विगृहीतानां . नानावादः । . दृष्टेर्वा पुन. आरभ्य तद्यथा सत्कायदृष्टि, उच्छेददृष्टि, विषम हेतुदृष्टि, शाश्वतदृष्टि, वार्षगण्यदृष्टि, मिथ्यादृष्टिमिति वा नानावाद. ।"

हैं, राजा या योग्यकुलकी परिषद् और धर्म-अर्थमें निपुण ब्राह्मणों या श्रमणोंकी सभा।

(ग) **वाद-अधिष्ठान**—वादके अधिष्ठान (=मुख्य विषय) है दो प्रकारके साध्य और साध्यको सिद्ध करनेके लिए उपयुक्त होनेवाले आठ प्रकारके साधन। इसमे साध्यके सत्-असत्के स्वभाव (=स्वरूप) तथा नित्य-अनित्य, भौतिक-अभौतिक आदि विशेषको लेकर साध्यके स्वभाव और विशेष ये दो भेद होते हैं।

(आठ साधन)—साध्य वस्तुके सिद्ध करनेवाले साधन निम्न आठ प्रकारके हैं—

(a) **प्रतिज्ञा**—स्वभाव या विशेषवाले दोनो प्रकारके साध्योंको लेकर (वादी-प्रतिवादीका) जो अपने पक्षका परिग्रह (=ग्रहण) है। वही प्रतिज्ञा है। यह पक्ष-परिग्रह शास्त्र(-मत)की स्वीकृतिसे हो सकता है या अपनी प्रतिभासे, या दूसरेके तिरस्कारसे या दूसरेके शास्त्रीय मत (=अनुश्रव)से, या तत्त्व-साक्षात्कारसे, या अपने पक्षकी स्थापनासे, या पर-पक्षके दूषणसे, या दूसरेके पराजयसे, या दूसरेपर अनुकंपासे भी हो सकता है।

(b) **हेतु**—उसी प्रतिज्ञावाली बातकी सिद्धिके लिए सारूप्य (=सादृश्य) या वैरूप्य उदाहरणकी सहायतासे, अथवा प्रत्यक्ष, अनुमान या आप्त-आगम (=शब्दप्रमाण, ग्रंथ-प्रमाण)से युक्तिका कहना हेतु है।

(c) **उदाहरण**—उसी प्रतिज्ञावाली बातकी सिद्धिके लिए हेतुपर आश्रित दुनियामे उचित प्रसिद्ध वस्तुको लेकर बात करना उदाहरण है।

(d) **सारूप्य**—किसी चीजका किसीके साथ सादृश्य सारूप्य कहा जाता है। यह पाँच प्रकारका होता है।—(१) वर्तमान या पूर्वमे देखे हेतुमे चिह्नको लेकर एक दूसरेका सादृश्य लिंग-सादृश्य है; (२) परस्पर स्वरूप (=लक्षण) सादृश्य स्वभाव-सादृश्य कहा जाता है; (३) परस्पर क्रिया-सादृश्यको कर्म-सादृश्य कहते है; (४) धर्मता (=गुण)

सादृश्य धर्म-सादृश्य कहा जाता है, जैसे अनित्यमें दु:ख-धर्मताका सादृश्य दु:खमें नैरात्म्यधर्मताका, निरात्मकोंमें जन्म-धर्मताका इत्यादि, (५) हेतुफल-सादृश्य परस्पर 'कार्य-कारण बननेका सादृश्य है।

(e) वैरूप्य—किसी वस्तुका किसी वस्तुके साथ अ-सदृश होना वैरूप्य है। यह भी लिंग–, स्वभाव–, कर्म–, धर्म–, और हेतुफल–वैसादृश्योंके तौरपर पाँच प्रकारका होता है।

(f) प्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष उसे कहते हैं, जो कि अ-परोक्ष (=इन्द्रियसे परेका नहीं) अनभ्यूहितअनभ्यूह्य और अ-भ्रान्त है।[1] यहाँ जो कल्पना नहीं, सिर्फ (इन्द्रियके) ग्रहण मात्रसे सिद्ध है, और जो वस्तु (=विषय) पर आधारित है,[2] उसे अनभ्यूहित-अनभ्यूह्य कहते हैं। अभ्रान्त उसे कहते हैं, जो कि पाँच भ्रान्तियोंसे मुक्त है। यह पाँच भ्रान्तियाँ हैं—

(i) संज्ञा भ्रान्ति—जैसे मृगतृष्णावाली (मरु)-मरीचिकामें पानीकी संज्ञा (=ज्ञान)।

(ii) संख्या-भ्रान्ति—जैसे धुन्धवालेका एक चन्द्रमें दो चन्द्रको देखना।

(iii) संस्थान-भ्रान्ति—जैसे बनेठी (=अलात)में (प्रकाश-) चक्रकी भ्रान्ति संस्थान(=आकार)-संबंधी भ्रान्ति है।

(iv) वर्ण-भ्रान्ति—जैसे कामला रोगवाले आदमीको न-पीली चीजें भी पीली दिखलाई पड़ती हैं।

(v) कर्म-भ्रान्ति—जैसे कड़ी मुट्ठी बाँधकर दौड़नेवालेको वृक्ष पीछे चले आते दीख पड़ते हैं।

---

[1] "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तं"—धर्मकीर्ति, पृ० ७८५ (असंगानुज वसुबन्धुके शिष्य दिग्नागका भी यही मत)।

[2] "यो ग्रहणमात्रप्रसिद्धोपलब्ध्याश्रयो विषयः यश्च विषयप्रतिष्ठोपलब्ध्याश्रयो विषयः।" यो० भू०

चित्त-भ्रान्ति—उक्त पाँचो भ्रान्तियोसे भ्रमपूर्ण विषयमे चित्तकी रति चित्त-भ्रान्ति है।

दृष्टि-भ्रान्ति—उक्त पाँचो भ्रान्तियोसे भ्रमपूर्ण विषयमें जो रुचि, स्थिति, मगल मानना, आसक्ति है, उसे दृष्टिभ्रान्ति कहते है।

प्रत्यक्ष चार प्रकारका होता है—रूपी (=भौतिक), इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मन-अनुभव-प्रत्यक्ष, लोक-प्रत्यक्ष और शुद्ध-प्रत्यक्ष।[1] इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और मन-अनुभव प्रत्यक्षका ही नाम लोक-प्रत्यक्ष है, यह असग खुद मानते है।[2] इस प्रकार प्रत्यक्ष तीन ही है, जिन्हे धर्मकीर्त्ति (दिग्नाग, और शायद उनके गुरु वसुबन्धु भी) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष और योगि-प्रत्यक्ष कहते है। हाँ वह लोक-प्रत्यक्षकी जगह स्वसवेदन-प्रत्यक्षसे चारकी सख्या पूरी कर देते है, इस तरह प्रत्यक्षके अपरोक्ष, कल्पना-रहित (=कल्पनापोढ) अभ्रान्त इस प्रत्यक्ष-लक्षण और इन्द्रिय-, मानस-, योगि-प्रत्यक्ष इन तीन भेदोकी परम्पराको हम बौद्धन्यायके सबसे पीछेके ग्रथकारो ज्ञानश्री आदिसे लेकर असग तक पाते है। असगसे पौने दो शताब्दी पहिले नागार्जुनसे और नागार्जुनसे शताब्दी पहिले अश्वघोष तक उसे जोडनेका हमारे पास साधन नही है।

(g) **अनुमान**—ऊहा (=तर्क)से अभ्यूहित (=तर्कित) और तर्कणीय जिसका विषय है वह अनुमान है। इसके पाँच भेद होते है—(१) लिंग से किया गया अनुमान, जैसे ध्वजसे रथका अनुमान, धूमसे अग्नि, राजासे राष्ट्र, पतिसे स्त्री, ककुद (=उड्ढा)-सीगसे बैलका अनुमान, (२) स्वभाव-से अनुमान यह एक देश (=अश)से सारेका अनुमान है, जैसे एक चावलके पकनेसे सारी हाँडीके पकनेका अनुमान, (३) कर्मसे अनुमान, जैसे हिलने, अग-चालनसे पुरुषका अनुमान, पैरकी चालसे हाथी, शरीरकी गतिसे साँप, हिनहिनानेसे घोडे, होकडनेसे साँडका अनुमान, देखनेसे आँख, सुननेसे

---

[1] शुद्ध-प्रत्यक्ष योगि-प्रत्यक्ष ही है "यो लोकोत्तरस्य ज्ञानस्य विषयः।"

[2] "तदुभयमेकध्यमभिसंक्षिप्य लोक-प्रत्यक्षमित्युच्यते।" यो० भू०

कान, सूँघनेसे घ्राण, चखनेसे जिह्वा, छूनेसे त्वक्, जाननेसे मनका अनुमान, पानीमें देखनेकी रुकावटसे पृथिवी, चिकने हरे होनेसे जल, दाह-भस्म देखनेसे आग, वनस्पतिके हिलनेसे हवा। (४) धर्म (=गुण)से अनुमान, जैसा अनित्य होनेसे दुःख होनेका अनुमान, दुःख होनेसे शून्य और अनात्मक होनेका अनुमान। (५) कार्य-कारण(=हेतु-फल)से अनुमान, अर्थात् कार्यसे कारणका अनुमान तथा कारणसे कार्यका अनुमान, जैसे राजाकी सेवासे महाऐश्वर्य (=महाभिसार)के लाभका अनुमान, महाऐश्वर्यके लाभसे राज-सेवाका अनुमान, बहुत भोजनसे तृप्ति, तृप्तिसे बहुत भोजन, विषम भोजनसे व्याधि, व्याधिसे विषम भोजनका अनुमान।

धर्मकीर्त्तिने तादात्म्य और तदुत्पत्तिसे अनुमानके जिन भेदोंको बतलाया है, वे असंगके इन भेदोंमें भी मौजूद हैं।

(h) **आप्तागम**—यही शब्द प्रमाण है।

(घ) **वाद-अलंकार**—वादमें भूषण रूप है वक्ताकी निम्न पाँच योग्यताए—(१) **स्व-पर-समयज्ञता**—अपने और पराये मतोंकी अभिज्ञता। (२) **वाक्कर्म-संपन्नता**—बोलनेमें निपुणता जोकि अग्राम्य, लघु (=सुबोध), ओजस्वी, सबद्ध (=परस्पर अ-विरोधी और अशिथिल) और सु-अर्थ शब्दोंके प्रयोगको कहते हैं। (३) **वैशारद्य**—सभामें अदीनता, निर्भीकता न-पीला मुख होने, गद्गद स्वर न होने, अदीन वचन होनेको कहते हैं। (४) **स्थैर्य**—काल लेकर जल्दी किये विना बोलना। (५) **दाक्षिण्य**—मित्रकी भाँति पर-चित्तके अनुकूल बात करनेका ढंग।

(ङ) **वाद-निग्रह**—वादमें पकड़ा जाना, जिससे कि वादी पराजित हो जाता है। ये तीन हैं—कथा-त्याग, कथा-साद (=इधर-उधरकी बातें करने लगना) और कथा-दोष। बेठीक बोलना, अ-परिमित बोलना, अनर्थवाली बात बोलना, बेसमय बोलना, अ-स्थिर, अ-दीप्त और अ-सबद्ध बोलना ये कथा-दोष हैं।

(च) **वाद-निःसरण**—गुण-दोष, कौशल्य (=निपुणता) और सभाकी परीक्षा करके वादको न करना वाद-निःसरण है।

(छ) वादेवहुकर बातें—ये हैं वादकी उपयोगी बातें स्व-पर-मत-अभिज्ञता, वैशारद्य और प्रतिभान्विता।

(५) परमत-खंडन

असंगने "योगाचार-भूमि"में सोलह पर-वादो (=दूसरोके मतो)को देकर उनका खडन किया है। ये पर-वाद है—

(क) **हेतु-फल-सद्वाद**—हेतु (=कारण)मे फल (=कार्य) सदा मौजूद रहता है, जैसा कि **वार्षगण्य** (साख्य) मानते है। वे अपने इस सद्वाद (पीछे यही सत्कार्यवाद)को आगम (=ग्रथ)पर आधारित तथा युक्ति-सम्मत मानते है। वे कहते है, जो फल (=कार्य) जिससे उत्पन्न होता वह उसका हेतु (=कारण) होता है; इसीलिए आदमी जिस फलको चाहता है, वह उसीके हेतुका उपयोग करता है, दूसरेका नही। यदि ऐसा न होता तो जिस किसी वस्तु (तेलके लिए तिल नही रेत आदि किसी भी चीज)का भी उपयोग करता।

खंडन—मगर उनका यह वाद गलत है। आप हेतु (=कारण) को फल(=कार्य)-स्वरूप मानते है या भिन्न स्वरूप? यदि हेतु फल-स्वरूप ही है, अर्थात् दोनो अभिन्न है, तो हेतु और फल, हेतुसे फल यह कहना गलत है। यदि भिन्न स्वरूप है, तो सवाल होगा—वह भिन्न स्वरूप उत्पन्न हुआ है या अनुत्पन्न? उत्पन्न माननेपर, 'हेतुमे फल है' कहना ठीक नही। यदि उत्पन्न मानते है, तो जो अनुत्पन्न है, वह हेतुमे "है" कैसे कहा जायेगा? इसलिए हेतुमे फलका सद्भाव नही होता, हेतुके होनेपर फल उत्पन्न होता है। अतएव "नित्य काल सनातनसे हेतुमे फल विद्यमान है" यह कहना ठीक नही है। यह वाद अयोग-विहित (=युक्ति-रहित) है।

(ख) **अभिव्यक्तिवाद**—अभिव्यक्ति या अभिव्यजनावादके अनुसार पदार्थ उत्पन्न नही होते, बल्कि अभिव्यक्त (=प्रकाशित) होते है। हेतु-फल-सद्वादके माननेवाले साख्यो और शब्द-लक्षणवादी वैयाकरणोका

यही मत है। हेतु-फल-सद्वादके अनुसार फल(=कार्य) यदि पहिलेहीमे मौजूद है, तो प्रयत्न करनेकी क्या जरूरत ? अभिव्यक्तिके लिए प्रयत्न करना पडता है।

खंडन—क्या आप अनभिव्यक्तिमे आवरण करनेवाले कारणके होनेको मानते है या न होनेको ? "आवरण-कारणके न होनेपर" यह कह नही सकते। "होनेपर" भी नही कह सकते, क्योंकि जब वह हेतुको नही ढाँक सकता, जो कि सदा फल-सयुक्त है, तो फलको कैसे ढाँक सकता है ? हेतु-फल-सद्वाद वस्तुत गलत है, वस्तुओके अभिव्यक्त न होनेके छ कारण है[1]—(१) दूर होनेसे, (२) चार प्रकारके आवरणोसे ढँके होनेसे, (३) सूक्ष्म होनेसे, (४) चित्तके विक्षेपसे, (५) इन्द्रियके उपघातसे, (६) इन्द्रिय-सबधी ज्ञानोके न पानेसे।

जिस तरह साख्योका हेतु-फल-अभिव्यक्तिवाद गलत है, वैसे ही वैयाकरणो (और मीमासकोका भी) शब्द-अभिव्यक्तिवाद भी गलत है। "शब्द नित्य है" यह युक्तिहीन वाद है।

(ग) भूत-भविष्यके द्रव्योंका सद्वाद—यह बौद्ध सर्वास्तिवादियोका मत है, अश्वघोष (५० ई०)से असगके वक्त तक गधार (असगकी जन्मभूमि) सर्वास्तिवादियोका गढ चला आया था। असगके अनुज वसुबन्धुका महान् ग्रथ अभिधर्मकोश तथा उसपर स्वरचित-भाष्य सर्वास्तिवाद (=वैभाषिक) के ही ग्रथ है। लेकिन अब गधार तथा सारे भारतसे इन प्राचीन (=स्थविर) बौद्ध सप्रदायोका लोप होनेवाला था और उनका स्थान महायान लेने जा रहा था। सर्वास्तिवादी कहते "अतीत (=भूत) है, अनागत (=भविष्य) है, दोनो उसी तरह लक्षण-सपन्न है जैसे कि वर्तमान द्रव्य।"

---

[1] ईश्वरकृष्णने भी सांख्य-कारिकामें इन हेतुओको गिनाया है। ईश्वरकृष्णका दूसरा नाम विध्यवासी भी था, और उनकी प्रतिद्वद्विता असगानुज वसुबन्धुसे थी, यह हमें चीनी लेखोसे मालूम है।

खंडन—असग इसका खडन करते हुए कहते है—इन (अतीत-अनागत) काल-सबधी वस्तुओ (=धर्मो)को नित्य मानते हो या अनित्य ? यदि नित्य मानते हो, तो त्रिकाल-सबद्ध नहीं बल्कि कालातीत होगे। यदि अनित्य लक्षण (=स्वरूप) मानते हो, तो "तीनो कालोमे वैसा ही विद्यमान है" यह कहना ठीक नही।

(घ) आत्मवाद—आत्मा, सत्त्व, जीव, पोष या पुद्गल नामधारी एक स्थिर सत्य तत्त्वको मानना आत्मवाद है, (उपनिषदका यह प्रधान मत है)। असंग इसका खडन करते है—जो देखता है वह आत्मा है यह भी युक्ति-युक्त नही। आत्माकी धारणा न प्रत्यक्ष पदार्थमे होती है, न अनुमान-गम्य पदार्थमे ही। यदि चेष्टा (=शरीर-क्रिया)को बुद्धि-हेतुक माने, तो 'आत्मा चेष्टा करता है' यह कहना ठीक नही। नित्य आत्मा चेष्टा कर नही सकता। नित्य आत्मा सुख-दु खसे भी लिप्त नहीं हो सकता।

वस्तुत. धर्मों (=सांसारिक वस्तु-घटनाओ)मे आत्मा एक कल्पना मात्र है। सारे "धर्म" अनित्य, अध्रुव, अन्-आश्वासिक, विकारी, जन्म-जरा-व्याधिवाले है, दु ख मात्र उनका स्वरूप है। इसीलिए भगवान्ने कहा—"भिक्षुओ ! ये धर्म(=वस्तुएँ) ही आत्मा है। भिक्षु ! यह तेरा आत्मा अ-ध्रुव, अन्-आश्वासिक, विपरिणामी (=विकारी) है।" यह सत्त्वकी कल्पना सस्कारो (=कृत वस्तुओ, घटनाओ)में ही समझनी चाहिए, दुनियामे व्यवहारकी आसानी[1]के लिए ऐसा किया जाता है। वस्तुत. सत्त्व या आत्मा नामकी वस्तु कोई नही है। आत्मवाद युक्तिहीन वाद है।

(ङ) शाश्वतवाद[2]—आत्मा और लोकको शाश्वत, अकृत, अकृत-कृत, अनिर्मित, अनिर्माणकृत, अवध्य, कूटस्थायी मानना शाश्वतवाद है। कितने ही (यूनानी दार्शनिकोकी) परमाणु नित्यताको माननेवाले भी शाश्वतवादी होते है। परमाणु नित्यवादके बारेमे आगे कहेंगे।

---

[1] "सुख-संव्यवहारार्थम्।" [2] प्रकुध कात्यायन, पृष्ठ ५९२

(च) **पूर्वकृतहेतुवाद**[1]—जो कुछ आदमीको भोग भोगना पड रहा है, वह सभी पूर्वके किये कर्मोंके कारण है, इसे कहते है पूर्वकृत-हेतुवाद यह जैनोका मत है। दुनियामें ठीकसे काम करनेवालोको दुःख पाते, झूठे काम करनेवालोको हम सुख पाते देखते है। यदि पुरुष-प्रयत्नके आधीन होता, तो ऐसा न होता। इसलिए यह सब पूर्वकृतहेतुक, पुरिविलेका फल है।

असग इस बातसे बिल्कुल इन्कार नहीं करते, हाँ, वह साथ ही पुरुषके आजके प्रयत्नको भी फलदायक मानते है।

(छ) **ईश्वरादिकर्तृत्ववाद**—इसके अनुसार पुरुष जो कुछ भी सवेदना (=अनुभव) करता है, वह सभी ईश्वरके करनेके कारण होता है। मनुष्य शुभ करना चाहता है, पाप कर बैठता है, स्वर्गलोकमें जानेकी कामना करता है, नरकमे चला जाता है, सुख भोगनेकी इच्छा रखते दुःख ही भोगता है। चूँकि ऐसा देखा जाता है, इससे जान पड़ता है कि भावोका कोई कर्त्ता, स्रष्टा, निर्माता, पितासा ईश्वर है।

खंडन—ईश्वरमे जगत् बनानेकी शक्ति (जीवोके) कर्मके कारण है, या बिना कारण ही? कर्मके कारण (=हेतु) होनेसे सहेतुक है ही, फिर ईश्वरका क्या काम? यदि कर्मके कारण नही, अतएव अहेतुक है, तब भी ठीक नही। फिर सवाल होगा—(सृष्टिकर्त्ता) ईश्वर जगत्के अन्तर्भूत है या नहीं? यदि अन्तर्भूत है, तो जगत्से समानधर्मा हो वह जगत् सृजता है, यह ठीक नही है; यदि अन्तर्भूत नहीं है, तो (जगत्से) मुक्त (या दूर) जगत् सृजता है, यह भी ठीक नहीं। फिर प्रश्न है—वह जगत्को सप्रयोजन सृजता है या निष्प्रयोजन? यदि सप्रयोजन तो उस प्रयोजनके प्रति अनीश्वर (=बेबस) है फिर जगदीश्वर कैसे? यदि निष्प्रयोजन सृजता है, तो यह भी ठीक नही (यह तो मूर्ख चेष्टित होगा)। इसी तरह, यदि ईश्वरहेतुक सृष्टि होती है, तो जब ईश्वर है तब सृष्टि, जब

---

[1] महावीर, पृष्ठ ४९६

सृष्टि है तब ईश्वर और यह ठीक नही, (क्योकि दोनो तब अनादि होगे)। ईश्वर-इच्छाके कारण सृष्टि है, इसमे भी वही दोष है। इस प्रकार सामर्थ्य, जगत्मे अन्तर्भूत-अनन्तर्भूत होने, सप्रयोजन-निष्प्रयोजन, और हेतु होनेकी बात लेकर विचार करनेसे पता लगा कि सृष्टिकर्त्ता ईश्वर मानना बिल्कुल अयुक्त है।

(ज) **हिंसाधर्मवाद**—जो यज्ञमें मत्रविधिके अनुसार हिंसा (=प्राणातिपात) करता है, हवन करता है या जो हवन होता है (पशु), और जो इसमें सहायक होता है, सभी स्वर्ग जाते हैं—यह याज्ञिको (और मीमासको)का मत हिंसाधर्मवाद है। कलियुगके आनेपर ब्राह्मणोने पुराने ब्राह्मण-धर्मको छोड मास खानेकी इच्छासे इस (हिंसाधर्म)का विधान किया।

हेतु, दृष्टान्त, व्यभिचार, फलशक्तिके अभाव, मत्रप्रणेताके सबधसे विचार करनेपर यह वाद अयुक्त ठहरता है।

(झ) **अन्तानन्तिकवाद**—लोक अन्तवान्, लोक अनन्तवान् है, इस वादको अन्तानन्तिकवाद कहते है। बुद्धके उपदेशो[1]मे भी इस वादका जिक्र आया है।

(ञ) **अमराविक्षेपवाद**—यह वाद भी बुद्ध-वचनोमे मिलता है, और पहिले इसके बारेमें कहा जा चुका है।[2]

(ट) **अहेतुकवाद**—आत्मा और लोक अहेतुक (=बिना हेतुके) ही है, यह अहेतुकवाद है, यह भी पीछे आ चुका है।[3] अभावके अनुस्मरण, आत्माके अनुस्मरण, बाह्य-आभ्यन्तर जगत्मे निर्हेतुक वैचित्र्यपर विचार करनेसे यह वाद अयुक्त जान पडता है।

(ठ) **उच्छेदवाद**[4]—आत्मा रूपी, स्थूल चार महाभूतोसे बना है, वह रोग-, गड-, शल्य-सहित है। मरनेके बाद वह उच्छिन्न हो जाता है,

---

[1] देखो दीघनिकाय १।१
[2] देखो दर्शन०, पृष्ठ ४९३
[3] देखो दर्शन०, पृष्ठ ४८९
[4] देखो दर्शन०, पृष्ठ ४८७-८

नष्ट हो जाता है, फिर नहीं रहता। जिस तरह टूटे कपाल (वर्त्तनके टुकड़े) जुड़ने लायक नहीं होते, जिस तरह टूटा पत्थर अप्रतिसन्धिक होता है, वैसे ही यहाँ (आत्माके बारेमें) भी समझना चाहिए।

खंडन—यदि आत्मा (पाँच) स्कन्ध है, तो स्कन्ध (स्वल्पमें नाशमान होते भी) परंपरासे चलते रहते हैं, वैसे ही आत्माको भी मानना चाहिए। रूपी, औदारिक, चातुर्महाभूतिक, सराग, सगड, सशल्य आत्मा होता, तो देवलोकोंसे वह इससे भिन्न रूपमें कैसे दीख पड़ता है?

उच्छेदवाद अर्थात् भौतिकवादके विरुद्ध बस इतनी ही युक्ति दे असंगने मौन धारण किया है।

(ड) नास्तिकवाद—दान-यज्ञ कुछ नहीं, यह लोक परलोक कुछ नहीं, सुकृत दुष्कृतका फल नहीं होता—यह नास्तिकवाद, पहिले[1] भी आ चुका है।

(ढ) अग्रवाद—ब्राह्मण ही अग्र (=उच्च श्रेष्ठ) वर्ण है, दूसरे वर्ण हीन हैं, ब्राह्मण शुक्ल वर्ण हैं, दूसरे वर्ण कृष्ण हैं, ब्राह्मण शुद्ध होते हैं, अब्राह्मण नहीं, ब्राह्मण ब्रह्माके औरस पुत्र मुखसे उत्पन्न ब्रह्मज, ब्रह्म-निर्गत, ब्रह्म-पार्षद हैं, जैसे कि कलियुगवाले ये ब्राह्मण।

खंडन—ब्राह्मण भी दूसरे वर्णोंकी भाँति प्रत्यक्ष मातृ-योनिसे उत्पन्न हुए देखे जाते हैं, (फिर ब्रह्माका औरस पुत्र कहना ठीक नहीं), अतः "ब्राह्मण अग्रवर्ण हैं" कहना ठीक नहीं। क्या योनिसे उत्पन्न होनेके ही कारण ब्राह्मण-को अग्र मानते हो, या उसमें विद्या और सदाचारकी भी जरूरत समझते हो? यदि योनिसे ही मानते हो, तो यज्ञमें श्रुत-प्रधान, शील-प्रधान ब्राह्मणके लेनेकी बात क्यों करते हो? यदि श्रुत (=विद्या) और शील (=सदाचार)को मानते हो, तो 'ब्राह्मण अग्र वर्ण है' कहना ठीक नहीं।

(ण) शुद्धिवाद—जो सुन्दरिका नदीमें नहाता है, उसके सारे पाप धुल जाते हैं, इसी तरह बाहुदा, गया, सरस्वती, गंगामें नहानेसे पाप

---

[1] देखो दर्शनदिग्दर्शन, पृष्ठ ४८७

छूटता है। कोई उदक स्नान मात्रसे शुद्धि मानते हैं। कोई कुक्कुर व्रत (=कुक्कुरकी तरह हाथ बिना लगाये मुँहसे खाना, वैसे ही हाथ पैर करके बैठना-चलना आदि), गोव्रत, तैलमसि-व्रत, नग्न-व्रत, भस्म-व्रत, काष्ठ-व्रत, विष्ठा-व्रत जैसे व्रतोंसे शुद्धि मानते हैं; इसे शुद्धिवाद कहते हैं।

खंडन—शुद्धि आध्यात्मिक बात है, फिर वह तीर्थ-स्नानसे कैसे हो सकती है ?

(त) **कौतुकमंगलवाद**—सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण, ग्रहो-नक्षत्रोंकी विशेष स्थितिसे आदमीके मनोरथोंकी सिद्धि या असिद्धि होती है। इस-लिए ऐसा विश्वास रखनेवाले (=कौतुकमगलवादी) लोग सूर्य आदिकी पूजा करते हैं, होम, जप, तर्पण, कुम्भ, बेल (=बिल्व), शख आदि चढ़ाते हैं, जैसा कि जोतिसी (=गाणितिक) करते हैं।

खंडन—आप सूर्य-चन्द्र-ग्रहण आदिके कारण पुरुषकी सम्पत्ति-विपत्तिको मानते हैं या उसके अपने शुभ-अशुभ कर्मसे ? यदि ग्रहण आदिसे तो शुभ-अशुभ कर्म फजूल, यदि शुभ-अशुभ कर्मसे तो ग्रहणसे कहना ठीक नही।

४—अन्य विचार

असंगने स्कध, द्रव्य, परमाणुके बारेमे भी अपने विचार प्रकट किए हैं।

(१) **स्कंध**—

(क) **रूप-स्कंध या द्रव्य**—रूप-समुदाय (=रूपस्कंध)में चौदह द्रव्य है—पृथिवी-जल-अग्नि-वायु चार महाभूत, रूप-शब्द-गन्ध-रस-स्प्रष्टव्य पाँच इन्द्रिय-विषय और चक्षु-श्रोत-घ्राण-जिह्वा-काय (=त्वक्) पाँच इन्द्रियाँ।

ये द्रव्य कही-कही अकेले मिलते हैं, जैसे हीरा-शख-शिला-मूँगा आदिमें

अकेला पृथिवी-द्रव्य, चश्मा-सार-तडाग-नदी-प्रपात आदिमे सिर्फ अकेला जल, दीपक-उल्का आदिमे अकेला अग्नि, पुरवा-पछुवाँ आदिमे अकेला वायु। कही दो-दो द्रव्य इकट्ठा मिलते है, जैसे बर्फ-पत्ता-फल-फूल आदिमे और मणि आदिमें भी। कही-कही वृक्षादिके तप्त होनेपर तीन भी। और कही-कही चार भी, जैसे शरीरके भीतरके केशसे लेकर मल-मूत्र तकमें। खक्खट (=खटखट) होना पृथिवीका सूचक है, बहना जलका, ऊपरकी ओर जलना अग्निका और ऊपरकी ओर जाना वायुका। जहाँ जो-जो मिले, वहाँ उस महाभूतको मानना चाहिए। सभी रूप-समुदायमे सारे महाभूत रहते है, इसीलिए तो सूखे काठ (=पृथिवी)को मथनेसे आग पैदा होती है, अतिसतप्त लोहा-रूपा-सुवर्ण पिघल जाते है।

(ख) **वेदना** अनुभव करनेको कहते है।

(ग) **संज्ञा**—सज्ञा सजानन, जाननेको कहते है।

(घ) **संस्कार**—चित्तमे संस्कारको कहते है।

(ङ) **विज्ञान**—विज्ञानके बारेमे पहिले कहा जा चुका है।

(२) **परमाणु**—बीजकी भाँति परमाणु सारे रूपी स्थूल द्रव्योका निर्माण करते है, वह सूक्ष्म और नित्य होते है। असग ऐसे परमाणुओकी सत्ताका खडन करते है।—

परमाणुके सचयसे रूपसमुदाय नही तैयार हो सकता क्योकि परमाणुके परिमाण, अन्त, परिच्छेदका ज्ञान बुद्धि (=कल्पना) पर निर्भर है, (प्रत्यक्षपर नही)। परमाणु अवयव-रहित है, फिर वह सावयव द्रव्योका निर्माण कैसे कर सकता है? परमाणु अवयव-सहित है, यह नही कह सकते, क्योकि परमाणु ही अवयव है, और अवयव द्रव्यका होना है, परमाणुका नही।

परमाणु नित्य है, यह कहना ठीक नही क्योकि इस नित्यताको परीक्षा करके किसीने सिद्ध नही किया। सूक्ष्म होनेसे परमाणु नित्य है, यह भी कहना ठीक नही, क्योकि सूक्ष्म होनेसे तो वह अधिक दुर्बल (अतएव भगुर) होगा।

२. दिग्नाग (४२५ ई०)

वसुवधुकी तरह दिग्नागको भी छोड़कर आगे बढना नही चाहिए, यह मै मानता हूँ, किंतु मै धर्मकीर्त्तिके दर्शनके बारेमें उनके प्रमाणवार्त्तिकके आधारपर सविस्तर लिखने जा रहा हूँ। प्रमाणवार्त्तिक वस्तुत आचार्य दिग्नागके प्रधान ग्रंथ प्रमाणसमुच्चयकी व्याख्या (वार्त्तिक) है—जिसमे धर्मकीर्त्तिने अपनी मौलिक दृष्टिको कितने ही जगह दिग्नागसे मतभेद रखते हुए भी प्रकट किया—इसलिए दिग्नागपर और लिखनेका मतलब पुनरुक्ति और ग्रथविस्तार होगा। दिग्नागके बारेमें मैने अन्यत्र[1] लिखा है—

"दिग्नाग (४२५ ई०) वसुवन्धुके शिष्य थे, यह तिब्बतकी परंपरासे मालूम होता है। और तिब्बतमें इस संबंधकी यह परपराए आठवी शताब्दी-मे भारतसे गई थी, इसलिए उन्हें भारतीय-परपरा ही कहना चाहिए। यद्यपि चीनी परपरामे दिग्नागके वसुवधुका शिष्य होने का उल्लेख नही है, तो भी वहाँ उसके विरुद्ध भी कुछ नही पाया जाता। दिग्नागका काल वसुवंधु और कालिदासके बीचमें हो सकता है, और इस प्रकार उन्हे ४२५ ई० के आसपास माना जा सकता है। न्यायमुखके अतिरिक्त दिग्नागका मुख्य ग्रथ प्रमाणसमुच्चय है, जो सिर्फ तिब्बती भाषामें ही मिलता है। उसी भाषामें प्रमाण समुच्चयपर महावैयाकरण काशिकाविवरणपंजिका (=न्यास)के कर्त्ता जिनेन्द्रबुद्धि (७०० ई०)की टीका भी मिलती है।....,,

दिग्नागका जन्म तमिल प्रदेशके काञ्ची (=कजीवरम्)के पास "सिंहवक्र" नामके गाँवमें एक ब्राह्मण-घरमें हुआ था। सयाना होनेपर वह वात्सीपुत्रीय बौद्धसंप्रदायके एक भिक्षु नागदत्तके संपर्कमे आ भिक्षु बने। कुछ समय पढ़नेके बाद अपने गुरुसे उनका पुद्गल (=आत्मा)के बारेमें

---

[1] पुरातत्त्व-निबंधावली, पृष्ठ २१४-१५

[2] वात्सीपुत्रीय बौद्धोंके पुराने सम्प्रदायोंमें वह सम्प्रदाय है, जो अनात्मवादसे साफ इन्कार न करते भी, छिपे तौरसे एक तरहके आत्मवादका समर्थन करना चाहता था।

मतभेद हो गया, जिसके कारण उन्होंने मठको छोड़ दिया, और वह उत्तर भारतमें आ आचार्य वसुबंधुके शिष्योंमें दाखिल हो गए, और न्यायशास्त्र-का विशेषतौरसे अध्ययन किया। अध्ययनके बाद उन्होंने शास्त्रार्थोंमें प्रतिद्वंदियोंपर विजय (दिग्विजय) पाने और न्यायके थोड़ेमें किन्तु गंभीर ग्रंथोंके लिखनेमें समय बिताया।

दिग्नागके प्रधान ग्रंथ प्रमाणसमुच्चयमें परिच्छेदों और श्लोकों (=कारिकाओं)की संख्या निम्न प्रकार है—

परिच्छेद	विषय	श्लोक संख्या
१	प्रत्यक्ष-परीक्षा	४८
२	स्वार्थानुमान-परीक्षा	५१
३	परार्थानुमान-परीक्षा	५०
४	दृष्टान्त-परीक्षा	२१
५	अपोह-परीक्षा	५२
६	जाति-परीक्षा	२५
		२४७

प्रमाण-समुच्चयका मूल संस्कृत अभी तक नहीं मिल सका है, मैंने अपनी चार तिब्बत-यात्राओंमें इस ग्रंथके ढूँढनेमें बहुत परिश्रम किया, किन्तु इसमें सफलता नहीं मिली, किन्तु मुझे अब भी आशा है, कि वह तिब्बतके किसी मठ, स्तूप या मूर्तिके भीतरसे ज़रूर कभी मिलेगा।

प्रमाणसमुच्चयके प्रथम श्लोकमें दिग्नागने ग्रंथ लिखनेका प्रयोजन इस प्रकार लिखा है[1]—

"जगत्के हितैषी प्रमाणभूत उपदेष्टा . बुद्धको नमस्कार कर, जहाँ-तहाँ फैले हुए अपने मतोंको यहां एक जगह प्रमाणसिद्धिके लिए जमा किया जायेगा।"

---

[1] "प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने।
प्रमाणसिद्ध्यै स्वमतात् समुच्चय. करिष्यते विप्रसितादिहैकक:।"

दिग्नागने अपने ग्रथोमें दूसरे दर्शनो और वात्स्यायनके न्यायभाष्यकी तो इतनी तर्कसगत आलोचना की है, कि वात्स्यायनके भाष्यपर पाशुपताचार्य उद्योतकर भारद्वाजको सिर्फ उसका उत्तर देनेके लिए न्यायवार्त्तिक लिखना पडा ।[1]

३. धर्मकीर्त्ति (६०० ई०)

डाक्टर श्चेर्वास्कीके शब्दोमे धर्मकीर्त्ति भारतीय कान्ट थे। धर्मकीर्त्तिकी प्रतिभाका लोहा उनके पुराने प्रतिद्वदी भी मानते थे। उद्योतकर (५५० ई०)के "न्यायवार्त्तिक"को धर्मकीर्त्तिने अपने तर्कशरसे इतना छिन्न-भिन्न कर दिया था, कि वाचस्पति (८४१)ने उसपर टीका[2] करके (धर्मकीर्त्तिके) "तर्कपकमे-मग्न उद्योतकरकी अत्यन्त बूढी गायोके उद्धार करने"का पुण्य प्राप्त करना चाहा। जयन्त भट्ट (१००० ई०)ने धर्मकीर्त्तिके ग्रंथोके कड़े आलोचक होते हुए भी उनके "सुनिपुणबुद्धि" होने, तथा उनके प्रयत्नको "जगदभिभव-धीर" माना।[3] अपनेको अद्वितीय कवि और दार्शनिक समझनेवाले श्रीहर्ष (११९२ ई०)ने धर्मकीर्त्तिके तर्कपथको "दुराबाध"[4] कहकर उनकी प्रतिभाका समर्थन किया। वस्तुतः धर्म-

---

[1] यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।
कुतर्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतुः करिष्यते तस्य मया निबन्धः॥
—न्यायवार्त्तिक १।१।१

[2] न्यायवार्त्तिक-तात्पर्यटीका १।१।१

[3] इति सुनिपुणबुद्धिर्लक्षणं वक्तुकामः पदयुगलमपीदं निर्ममे नानवद्यम्।
भवतु मतिमहिम्नश्चेष्टितं दृष्टमेतज्जगदभिभवधीरं धीमतो धर्मकीर्तेः॥
—न्यायमंजरी, पृ० १००

[4] दुराबाध इव चायं धर्म्मकीर्तेः पन्था इत्यवहितेन भाव्यमिहेति॥
—खण्डनखण्डखाद्य १

कीर्त्तिकी प्रतिभाका लोहा तबसे ज्यादा आजकी विद्वन्मडली मान सकती है, क्योंकि आजकी दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रगतिमे उनके मूल्यको वह ज्यादा समझ सकते है।

१. जीवनी—धर्मकीर्त्तिका जन्म चोल (=उत्तर तमिल) प्रान्तके तिरुमलै नामक ग्राममें एक ब्राह्मणके घरमे हुआ था। उनके पिताका नाम तिब्बती परपरामे कोरुनन्द (?) मिलता है, और किसी-किसीमें यह भी कहा गया है, कि वह कुमारिलभट्टके भाजे थे। यदि यह ठीक है—जिसकी बहुत कम सभावना है—तो मामाके तर्कोंका भाजेने जिस तरह प्रमाण-वार्त्तिकमे खडन करते हुए मार्मिक परिहास किया है, वह उन्हे सजीव हास्य-प्रिय व्यक्तिके रूपमे हमारे सामने ला रखता है। धर्मकीर्त्ति बचपनसे ही बडे प्रतिभाशाली थे। पहिले उन्होंने ब्राह्मणोके शास्त्रो और वेदो-वेदागोका अध्ययन किया। उस समय बौद्धधर्मकी ध्वजा भारतके कोने-कोनेमे फहरा रही थी, और नागार्जुन, वसुबधु, दिग्नागका बौद्धदर्शन विरोधियोमे प्रतिष्ठा पा चुका था। धर्मकीर्त्तिको उसके बारेमें जाननेका मौका मिला और वह उससे इतने प्रभावित हुए कि तिब्बती परपराके अनुसार उन्होने बौद्ध गृहस्थोके वेषमें बाहर आना जाना शुरु किया (?), जिसके कारण ब्राह्मणोने उनका बहिष्कार किया। उस वक्त नालन्दाकी ख्याति भारतमें दूर-दूर तक फैली हुई थी। धर्मकीर्त्ति नालदा चले आये और अपने समयके महान् विज्ञानवादी दार्शनिक तथा नालन्दाके सघ-स्थविर (=प्रधान) धर्मपालके शिष्य बन भिक्षुसघमे सम्मिलित हुए।

धर्मकीर्त्तिकी न्यायशास्त्रके अध्ययनमे ज्यादा रुचि थी, और उसे उन्होने दिग्नागकी शिष्य-परपराके आचार्य ईश्वरसेनसे पढा।

विद्या समाप्त करनेके बाद उन्होने अपना जीवन ग्रंथ लिखने शास्त्रार्थ करने और पढनेमे बिताया।

(धर्मकीर्त्तिका काल ६०० ई०)[1]—"चीनी पर्यटक इ-त्सिङने धर्म-

---

[1] मेरी "पुरातत्त्वनिबधावली", पृष्ठ २१५-१७

कीर्त्तिका वर्णन अपने ग्रथमे किया है, इसलिए धर्मकीर्त्ति ६७९ ई०से पहिले हुए, (इसमे सदेह नही) । .. धर्मकीर्त्ति नालदाके प्रधान आचार्य धर्मपालके शिष्य थे । युन्-च्वेडके समय (६३३ ई०) धर्मपालके शिष्य शीलभद्र नालंदाके प्रधान आचार्य थे, जिनकी आयु उस समय १०६ वर्षकी थी । ऐसी अवस्थामें धर्मपालके शिष्य धर्मकीर्त्ति ६३५ ई०में बच्चे नही हो सकते थे ।....(धर्मकीर्त्तिके वारेमे) युन्-च्वेडकी चुप्पीका कारण हो सकता है युन्-च्वेडके नालन्दा-निवासके समयसे पूर्वही धर्मकीर्त्तिका देहान्त हो चुका होना हो ।...."

यह और दूसरी वातोपर विचारते हुए धर्मकीर्त्तिका समय ६०० ई० ठीक मालूम होता है ।

२. धर्मकीर्त्तिके ग्रंथ—धर्मकीर्त्तिने अपने ग्रथ सिर्फ प्रमाण-संवद्ध वौद्धदर्शन या वौद्ध प्रमाणशास्त्रपर लिखे हैं । इनकी सख्या नौ है, जिनमें सात मूल ग्रथ और दो अपने ही ग्रंथोंपर टीकाए हैं ।

	ग्रथनाम	ग्रथपरिमाण (श्लोकोमें)	गद्य या पद्य
१.	प्रमाणवार्त्तिक	१४५४½	पद्य
२.	प्रमाणविनिश्चय	१३४०	गद्य-पद्य
३.	न्यायविन्दु	१७७	गद्य
४.	हेतुविन्दु	४४४	गद्य
५.	सवंध-परीक्षा	२९	पद्य
६.	वाद-न्याय	७९८	गद्य-पद्य
७.	सन्तान्तर-सिद्धि	७२	पद्य
		४३१४½	

टीकाए—

		परिमाण		
१.	(८) वृत्ति	३५००	गद्य	प्रमाणवार्त्तिक १ परिच्छेदपर ।
२	(९) वृत्ति	१४७	गद्य	सवंघपरीक्षापर
		३६४७		

गोया धर्मकीर्त्तिने मूल और टीका मिलाकर (४३१४½ + ३६४७) ७६६१½ श्लोकों[1]के बराबर ग्रंथ लिखे हैं। धर्मकीर्त्तिके ग्रंथ कितने महत्त्व-पूर्ण समझे जाते थे, यह इसीसे पता लगता है कि तिब्बती भाषामें अनूदित बौद्ध न्यायके कुल संस्कृत ग्रंथोंके १७५००० श्लोकोंमें १३७००० धर्मकीर्त्तिके ग्रंथोंकी टीका-अनुटीकाओंके हैं।[2]

---

[1] श्लोकसे ३२ अक्षर समझना चाहिए।

[2] टीकाएं इस प्रकार हैं—

मूल ग्रंथ	टीकाकार	किन परिच्छेदपर	ग्रंथ-परिमाण
१. प्रमाण-वार्त्तिक	१. देवेन्द्रबुद्धि (पंजिका) T	२-४	८,७४८
	२. शाक्यबुद्धि (पंजिका-टीका) T	२-४	१७,०४६
	३. प्रज्ञाकरगुप्त (भाष्य) ST	२-४	१६,२७६
	४. जयानन्त (भाष्यटीका) T	२-४	१८,१४८
	५. यमारि (भाष्यटीका) T	२-४	२६,५५२
	६. रविगुप्त (भाष्यटीका) T	२-४	७,५५२
	७. मनोरथनन्दी (वृत्ति) S	१-४	८,०००
	८. धर्मकीर्त्ति (स्ववृत्ति) TS	१	३,५००
	९. शंकरानंद (स्ववृत्ति-टीका) T (अपूर्ण)	१	७,५७८
	१०. कर्णकगोमी (स्ववृत्ति-टीका) S	१	१०,०००
	११. शाक्यबुद्धि (स्ववृत्तिटीका) T	१	.
२. प्रमाण-विनिश्चय	१. धर्मोत्तर (टीका) T	१-३	१२,४६३
	१. ज्ञानश्री (टीका) T		३,२७१
३. न्यायबिन्दु	१. विनीतदेव (टीका) T	१-३	१,०३०
	२. धर्मोत्तर (टीका) TS	१-३	१,४७७
	३. दुर्वेकमिश्र (अनु-टीका) S	१-३	..
	४. कमलशील (टीका) T		२२१

	५. जिनमित्र (टीका)T		३१
४. हेतुविन्द	१. विनीतदेव (टीका)T	१-४	२,२६८
	२. अर्चट (विवरण)TS	१-४	१,७६८
	३. दुर्वेकमिश्र (अनु-टीका)T	१-४	,,
५. सवंध-परीक्षा	१. धर्मकीर्त्ति (वृत्ति) T		१४७
	५. विनीतदेव (टीका)T		५४८
	३. शंकरानंद (टीका) T		३८४
६. वादन्याय	१. विनीतदेव (टीका)T		६०६
	२ शान्तरक्षित (टीका)TS		२,६००
७. सन्ताना-न्तर-सिद्धि	१. विनीतदेव (टीका)T		४७४

I. T. तिब्बती भाषानुवाद उपलब्ध; S=संस्कृत मूल, मौजूद।

II. प्रमाणवार्त्तिकके टीकाकारोंका क्रम इस प्रकार है—
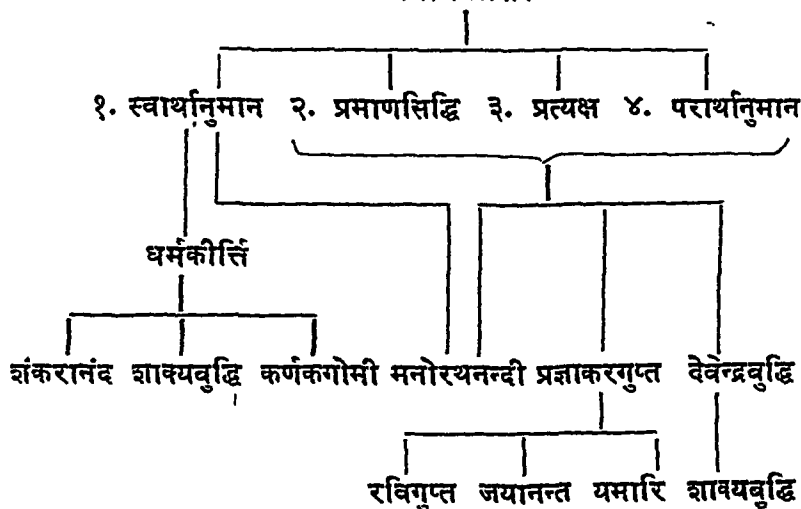
(प्रमाणवार्त्तिक)—यह कह चुके है, कि धर्मकीर्त्तिका प्रमाण-वार्त्तिक दिग्नागके प्रमाणसमुच्चयकी एक स्वतंत्र व्याख्या है। प्रमाणसमुच्चयके छै परिच्छेदोंको हम बतला चुके हैं। प्रमाणवार्त्तिकके चार परिच्छेदोंके विषय प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष-स्वार्थानुमान प्रमाण, और परार्थानुमान-प्रमाण हैं; किन्तु आमतौरसे पुस्तकोंमें यह क्रम पाया जाता है—स्वार्थानुमान, प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष और परार्थानुमान। यह क्रम गलत है यह समझनेमें दिक्कत नही होती, जब हम देखते है कि प्रमाणसमुच्चयके जिस भागपर प्रमाणवार्त्तिक लिखा गया है, वह किस क्रमसे है। इनके लिए देखिए, प्रमाणसमुच्चयके भाग और उसपरके प्रमाण-वार्त्तिकको—

III. कालके साथ धर्मकीर्त्तिकी शिष्य-परंपरा—
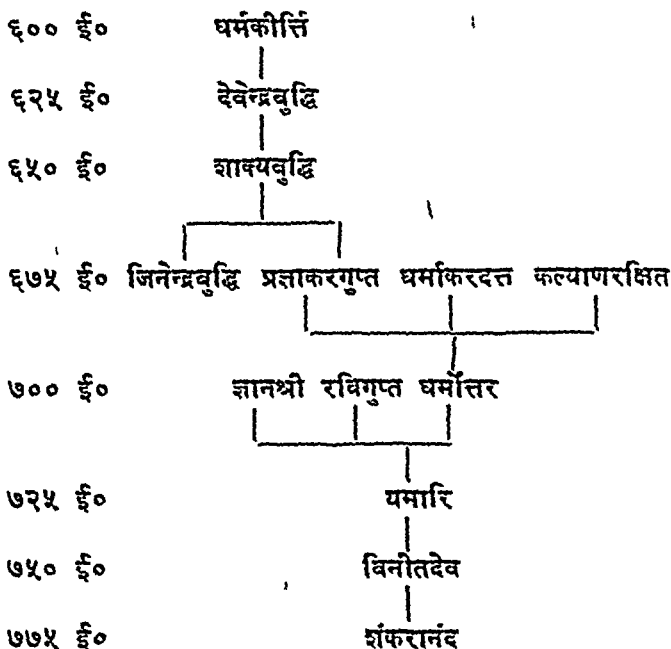
प्रमाणसमुच्चय	परिच्छेद	प्रमाणवार्त्तिक	परिच्छेद (होना चाहिए)
मगलाचरण[1]	१।१	प्रमाणसिद्धि	(१)
प्रत्यक्ष	१	प्रत्यक्ष	(२)
स्वार्थानुमान	२	स्वार्थानुमान	(३)
परार्थानुमान	३	परार्थानुमान	(४)

प्रमाणसमुच्चयके बाकी परिच्छेदो—दृष्टान्त[2]-, अपोह[3]-, जाति[4] (=सामान्य)-परीक्षाओ—के बारेमें अलग परिच्छेदोमे न लिखकर धर्मकीर्त्तिने उन्हे प्रमाणवार्त्तिकके इन्ही चार परिच्छेदोमे प्रकरणके अनुकूल बाँट दिया है।

न्यायबिन्दु तथा धर्मकीर्त्तिके दूसरे ग्रंथोंमे भी प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान, परार्थानुमानके युक्तिसगत क्रमको ही माना गया है, और मनोरथनन्दीने प्रमाणवार्त्तिकवृत्तिमें यही क्रम स्वीकार किया है; इसलिए भाष्यो, पजिकाओ, टीकाओ या मूलपाठोमें सर्वत्र स्वार्थानुमान, प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष, परार्थानुमानके क्रमको देखनेपर भी ग्रथकारका क्रम यह नही बल्कि मनोरथनंदी द्वारा स्वीकृत क्रम ही ठीक सिद्ध होता है। क्रममें उलटपुलट हो जानेका कारण धर्मकीर्त्तिकी स्वार्थानुमानपर स्वरचित वृत्ति है। उनके शिष्य देवेन्द्रबुद्धिने ग्रंथकारकी वृत्तिवाले स्वार्थानुमान परिच्छदको छोड़कर अपनी पजिका लिखी, जिससे आगे वृत्ति और पंजिकाको अलग-अलग रखनेके लिए प्रमाणवार्त्तिकको दो भागोमे कर दिया गया। इस विभागको और स्थायी रूप देनेमें प्रज्ञाकरगुप्तके भाष्य तथा देवेन्द्रबुद्धिकी पजिकावाले तीनों परिच्छदोके चुनावने सहायता की। इस क्रमको सर्वत्र प्रचलित देखकर मूल कारिकाकी प्रतियोमें भी लेखकोको वही क्रम अपना लेना पड़ा।

---

[1] देखो पृ० ६६२ फुटनोट [2] प्र० वा० ३।३७, ३।१३६

[3] वहीं २।१६३-७३ [4] वहीं २।५-५५; २।१४५-६२; ३।५५-१६१; ४।१३३-४८; ४।१७६-८८

यद्यपि मनोरथनदी द्वारा स्वीकृत क्रमके अनुसार उनकी वृत्तिको मैंने सम्पादित किया है, और वह उपलभ्य है, तो भी मूल प्रमाणवार्त्तिकको मैंने सर्वस्वीकृत तथा तिब्बती-अनुवाद और तालपत्रमें मिले क्रमसे सम्पादित किया है, और प्रज्ञाकर गुप्तका प्रमाणवार्त्तिक-भाष्य (वार्त्तिकालंकार) उसी क्रमसे संस्कृतमें मिला प्रकाशित होनेके लिए तैयार है, इसलिए मैंने भी यहाँ परिच्छेद और कारिका देनेमें उसी सर्वस्वीकृत क्रमको स्वीकार किया है।

धर्मकीर्त्तिके दार्शनिक विचारोंपर लिखते हुए प्रमाणवार्त्तिकमें आए मुख्य-मुख्य विषयोंपर हम आगे कहने ही वाले हैं, तो भी यहाँ परिच्छेदके क्रमसे मुख्य विषयोंको दे देते हैं—

पहिला परिच्छेद
(स्वार्थानुमान)

	विषय	परिच्छेद कारिका
१	ग्रंथका प्रयोजन	१।१
२	हेतुपर विचार	१।३
३	अभावपर विचार	१।५ (+४।१२६)
४.	शब्दपर विचार	१।१८६
५	शब्द प्रमाण नहीं	१।२१४
६	अपौरुषेय वेद प्रमाण नहीं	१।२२५

दूसरा परिच्छेद
(प्रमाणसिद्धि)

	विषय	परिच्छेद कारिका
१	प्रमाणका लक्षण	२।१
२.	बुद्धके वचन क्यों माननीय हैं।	२।२६

तीसरा परिच्छेद
(प्रत्यक्षप्रमाण)

	विषय	परिच्छेद कारिका
१	प्रमाण दो ही— प्रत्यक्ष, अनुमान	३।१
२	परमार्थ सत्य और व्यवहार सत्य	३।३
३	सामान्य कोई वस्तु नहीं	३।३ (+४।१३१)
४	अनुमान प्रमाण	३।५५
५	प्रत्यक्ष प्रमाण	३।१२३
६	प्रत्यक्षके भेद	३।१९१
७	प्रत्यक्षाभास कौन है?	३।२८८
८	प्रमाणका फल	३।३००

चौथा परिच्छेद

(परार्थानुमान)

३. धर्मकीर्त्तिका दर्शन—धर्मकीर्त्तिने सिर्फ प्रमाण (न्याय) शास्त्र ही पर सातो ग्रथ लिखे है, और उन्हे दर्शनके वारेमे जो कुछ कहना था, उसे इन्ही प्रमाणशास्त्रीय ग्रथोमे कह दिया। इन सात ग्रथोमे **प्रमाणवार्त्तिक** (१४५४½ "श्लोक"), **प्रमाणविनिश्चय** (१३४० "श्लोक"), **हेतुविन्दु** (४४४ "श्लोक"), **न्यायविन्दु** (१७७ "श्लोक")के प्रतिपाद्य विषय एक ही है, और उनमे सवसे वडा और संक्षेपमे अधिक वातोपर प्रकाश डालनेवाला ग्रथ प्रमाणवार्त्तिक है। वादन्यायमे आचार्यने अक्षपादके अठारह निग्रहस्थानोकी भारी भरकम सूचीको फजूल वतलाकर, उसे आधे श्लोकमें कह दियो है[१]—

"निग्रह (=पराजय) स्थान है (वादके लिए) अ-साधन, वातका कथन और (प्रतिवादीके) दोषका न पकड़ना।"

सम्वन्ध-परीक्षाकी २९ कारिकाओमे धर्मकीर्त्तिने क्षणिकवादके अनुसार कार्य-कारण सवध कैसे माना जा सकता है, इसे वतलाया है, यह विषय प्रमाणवार्त्तिकमे भी आया है।

---

[१] "असाधनांगवचनं अदोषोद्भावनं द्वयोः।"—वादन्याय, पृष्ठ १

सन्तान्तरसिद्धिके ७२ सूत्रोंमे धर्मकीर्त्तिने पहिले तो इस मन-सन्तान (मन एक वस्तु नहीं बल्कि प्रतिक्षण नष्ट और नई उत्पन्न होती सन्तान=घटना है)से परे भी दूसरी-दूसरी मन-सन्तानें (सन्तानान्तर) है इसे सिद्ध किया है, और अन्तमें बतलाया है कि ये सब मन (=विज्ञान)-सन्तानें किस प्रकार मिलकर दृश्य जगत्को (विज्ञानवादके अनुसार) बाहर क्षेप करती हैं। विज्ञानवादकी चर्चा प्रमाणवार्त्तिकमें भी धर्मकीर्त्तिने की है।

धर्मकीर्त्तिके दर्शनको जाननेके लिए प्रमाणवार्त्तिक पर्याप्त है।

(१) तत्कालीन दार्शनिक परिस्थिति—धर्मकीर्त्ति दिग्नागकी भाँति असंगके योगाचार (विज्ञानवाद) दार्शनिक सम्प्रदायके माननेवाले थे। वसुबंधु, दिग्नाग, धर्मकीर्त्ति जैसे महान् तार्किकोंका शून्यवाद छोड़ विज्ञानवादसे संबंध होना यह भी बतलाता है, कि हेगेलकी तरह इन्हें भी अपने तर्कसम्मत दार्शनिक विचारोंके लिए विज्ञानवादकी बड़ी जरूरत थी। किन्तु धर्मकीर्त्ति शुद्ध योगाचार नहीं सौत्रान्तिक (या स्वातन्त्रिक) योगाचारी माने जाते हैं। सौत्रांतिक बाहरी जगत्की सत्ताको ही मूलतत्त्व मानते हैं और योगाचारी सिर्फ विज्ञान (=चित्त, मन)को। सौत्रान्तिक (या स्वातंत्रिक) योगाचारका मतलब है, बाह्य जगत्की प्रवाह रूपी (क्षणिक) वास्तविकताको स्वीकार करते हुए विज्ञानको मूलतत्त्व मानना—ठीक हेगेलकी भाँति—जिसका अर्थ आजकी भाषामें होगा जड़ (=भौतिक)-तत्त्व विज्ञानका ही वास्तविक गुणात्मक परिवर्तन है। पुराने योगाचार दर्शनमें मूलतत्त्व विज्ञान (चित्त) का विश्लेषण करके उसे दो भागोंमे बाँटा गया था—आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान। प्रवृत्ति विज्ञान छै हैं—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, स्पर्श—पाँचों ज्ञान-इन्द्रियोंके पाँच विज्ञान (=ज्ञान), जो कि विषय तथा इन्द्रियके सपर्क होते वस्त रंग, आकार आदिकी कल्पना उठनेसे पहिले भान होते हैं, और छठा है मनका विज्ञान। आलय-विज्ञान उक्त छओ विज्ञानोंके साथ जन्मता-मरता भी अपने प्रवाह (=सन्तान)में सारे प्रवृत्ति-विज्ञानोंका आलय (=घर) है। इसीमें पहिलेके सस्कारोंकी वासना और आगे उत्पन्न होनेवाले विज्ञानोंकी वासना

रहती है। यद्यपि क्षणिकताके सदा साथ रहनेसे आलय विज्ञानमे ब्रह्म या आत्माका भ्रम नही हो सकता था, तो भी यह एक तरहका रहस्यपूर्ण तत्व बन जाता था, जिससे विमुक्तसेन, हरिभद्र, धर्मकीर्त्ति जैसे कितने ही विचारक इसमें प्रच्छन्न आत्मतत्वकी शका करने लगे थे, और वे आलय-विज्ञानके इस सिद्धातको अँधेरेमे तीर चलानेकी तरह खतरनाक समझते थे।[1] धर्मकीर्त्तिने आलय(-विज्ञान)शब्दका प्रयोग प्रमाणवार्त्तिक[2]मे किया है, किन्तु वह है विज्ञान साधारण—के अर्थमे, उसके पीछे वहाँ किसी अद्भुत् रहस्यमयी शक्तिका ख्याल[3] नही है।

सन्तान रूपेण (क्षणिक या विच्छिन्नप्रवाहरूपेण) भौतिक जगत्की वास्तविकता को साफ तौरसे इन्कार तो नही करना चाहते थे, जैसा कि आगे मालूम होगा, किन्तु वेचारोको था कुछ धर्मसकट भी, यदि अपने तर्कोंमे जगह-जगह प्रयुक्त भौतिक तत्वोकी वास्तविकताको साफ स्वीकार करते है, तो धर्मका नकाव गिर जाता है, और वह सीधे भौतिकवादी बन जाते है, इसीलिए स्वातन्त्रिक ही सही किंतु उन्हे विज्ञानवादी रहना ज़रूरी था। युरोपमे भौतिकवादको फूलने-फलनेका मौका तब मिला, जब कि सामन्तवादके गर्भसे एक होनहार जमात—व्यापारी और पूँजी-पति—वाहर निकल साइसके आविष्कारोकी सहायतासे अपना प्रभाव

---

[1] तिब्बती नैयायिक जम्-यड-शद्-पा (मंजुघोषपाद १६४८-१७२२ ई०), अपने ग्रंथ "सप्तनिबंध-न्यायालंकार-सिद्धि" (अलंकार-सिद्धि)में लिखते है—"जो लोग कहते हैं कि (धर्मकीर्त्तिके) सात निबंधों (=ग्रंथों)के मन्तव्योंमें "आलय-विज्ञान" भी है, वह अन्धे हैं, अपने ही अज्ञानान्धकार-में रहनेवाले हैं।"—डाक्टर श्चेर्वास्कीकी Buddhist Logic Vol. II, p. 329 के फुटनोटमें उद्धृत। [2] ३।५२२

[3] "आलय" शब्द पुराने पाली सूत्रोंमें भी मिलता है। किंतु वहाँ वह रुचि, अनुनय, या अध्यवसायके अर्थमें आता है। देखो "महाहत्थिपदोपम सुत्त" (मज्झिम-निकाय १।३।८); बुद्धचर्या, पृष्ठ १७६

बढा रही थी, और हर क्षेत्रमें पुराने विचारोंको दकियानूसी कह भौतिक जगत्की वास्तविकतापर आधारित विचारोंको प्रोत्साहन दे रही थी। छठी सदी ईसवीके भारतमें अभी यह अवस्था आनेमें १४ सदियोंकी जरूरत थी, किंतु इसीको कम न समझिए कि भारतीय हेगेल् (धर्मकीर्त्ति) जर्मनीके हेगेल् (१७७०-१८३१ ई०)से बारह सदियों पहिले हुआ था।

(२) तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति—यहाँ जरा हम दर्शनके पीछेकी सामाजिक भित्तिको देखना चाहिए, क्योंकि दर्शन चाहे कितना ही हाड-माससे नफरत करते हुए अपनेको उससे ऊपर समझे, किन्तु, है वह भी हाड-मासकी ही उपज। वसुबंधुसे धर्मकीर्त्ति तकका समय (४००-६०० ई०) भारतीय दर्शनके (और काव्य, ज्योतिष, चित्र-मूर्त्ति, वास्तुकलाके भी)[1] चरम विकासका समय है। इस दर्शनके पीछे आप गुप्त—मौखरी—हर्ष-वर्द्धन महान् तथा दृढ शासित साम्राज्यका हाथ भी कहना चाहेंगे, किन्तु महान् साम्राज्य कहकर हम मूल भित्तिको प्रकाशमें नहीं लाते, बल्कि उसे अन्धेरेमें छिपा देते हैं। उस कालका वह महान् साम्राज्य क्या था? कितने ही सामन्त-परिवार एक बड़े सामन्त—समुद्रगुप्त, हरिवर्मा या हर्षवर्द्धन—को अपने ऊपर मान, नये प्रदेशों नये लोगोंको अपने आधीन करने या अपने आधीन जनताको दूसरेके हाथमें न जाने देनेके लिए सैनिक शासन—युद्ध—या युद्धकी तैयारी—करते, और अपने शासनसे पहिलेसे मौजूद या नवागत जमातमें "शान्ति और व्यवस्था" कायम रखनेके लिए नागरिक शासन करते थे। किन्तु यह दोनों प्रकारका शासन "पेटपर पत्थर बाँधकर" सिर्फ परोपकार बुद्ध्या नहीं होता था। साधारण जनतासे आया सैनिक—जिनकी संख्या लडनेवालोंमें ही नहीं मरनेवालोंमें भी सबसे ज्यादा थी—को

---

[1]काव्य—कालिदास, दंडी, बाण; ज्योतिष—आर्यभट्ट, वराह-मिहिर, ब्रह्मगुप्त; चित्रकला—अजन्ता और बाघ; मूर्त्तिकला—गुप्त कालिक पाषाण और पीतलमूर्त्तियाँ; वास्तुकला—अजंता, एलोराकी गुहा, देव, कोणार्कके मन्दिर।

जरूर वहुत हद तक "पेटपर पत्थर बाँधना" पड़ता था; किन्तु सेनानायक सेनापति सामन्त-खान्दानोसे आनेके कारण पहिले हीसे वड़ी सपत्तिके मालिक थे, और अपने इस पदके कारण वड़े वेतन, लूटकी अपार धनराशि, और जागीर तथा इनामके पानेवाले होते थे—गोया समुद्रमे मूसलाधार वर्षा हो रही थी। और नागरिक शासनके वड़े-वड़े अधिकारी—उपरिक (=भुक्तिका शासक या गवर्नर), कुमारामात्य (=विषयका शासक या कमिश्नर)—आनरेरी काम करनेवाले नही थे, वह प्रजासे भेट (=रिश्वत), सम्राट्से वेतन, इनाम और जागीर लेते थे।

यह निश्चित है, कि आदमी जितना अपने आहार-विहार, वस्त्र-आभूषण तथा दूसरे न-टिकाऊ कामोपर खर्च करता है, उससे वहुत कम उन वस्तुओपर खर्च करता है, जो कि कुछ सदियो तक कायम रह सकती है। और इनमे भी अधिकाश सदियोसे गुजरते कालके ध्वसात्मक कृत्योसे ही नही वर्वर मानवके क्रूर हाथोसे नष्ट हो जाती है। तो भी वोधगया, वैजनाथके मन्दिर अथवा अजन्ता, एलौराके गुहाप्रासाद जो अव भी बच रहे है, अथवा कालिदासकी कृतियों और वाण भट्टकी कादम्बरीमें जिन नगर-अट्टालिकाओ राजप्रासादोका वर्णन मिलता है, उनके देखने से पता लगता है कि इनपर उस समयका सम्पत्तिशाली वर्ग कितना धन खर्च करता था, और सब मिलाकर अपने ऊपर उनका कितना खर्च था। आज भी शौकीनी विलासकी चीजें महँगी मिलती है, किन्तु इस मशीनयुगमें यह चीजें मशीनसे वननेके कारण वहुत सस्ती है—अर्थात् उनपर आज जितने मानव हाथोको काम करना पडता है, गुप्तकालमे उससे कई गुना अधिक हाथोकी जरूरत पडती।

साराश यह कि इस शासक सामन्तवर्गकी शारीरिक आवश्यकताओके लिए ही नही वल्कि उनकी विलास-सामग्रीको पैदा करनेके लिए भी जनताकी एक भारी संख्याको अपना सारा श्रम देना पडता था। कितनी सख्या इसका अन्दाज इसीसे लग सकता है, कि आजसे सौ वर्ष पहिले कम्पनीके शासनमे भारत जितना धन अपने, अग्रेज शासकोके लिए सालाना उनके

घर भेजता था, उसके उपार्जनके लिए छै करोड आदमियों—या सारी जनसख्याके चौथाईसे अधिक—के श्रमकी आवश्यकता होती थी। इसके अतिरिक्त वह खर्च अलग था, जिसे अग्रेज कर्मचारी भारतमे रहने खर्च करते थे।

यही नही कि जनताके आधे तिहाई भागको शासकोंके लिए उस तरहकी वस्तुओंको अपने श्रमसे जुटाना पडता था, बल्कि उनकी काम-वासनाकी तृप्तिके लिए लाखो स्त्रियोको वैध या अवैधरूपमे अपना शरीर बेचना पडता था, उनकी एक बडी सख्याको दासी बनकर बिकना पडता था। मनुष्यका दास-दासीके रूपमे सरेबाजार बिकना उस वक्तका एक आम नजारा था।

अर्थात् इस दर्शन—कला—साहित्यके महान् युगकी सारी सभ्यता मनुष्यकी पशुवत् परतत्रता और हृदयहीन गुलामीपर आश्रित थी—यह हमे नही भूलना चाहिए। फिर दार्शनिक दृष्टिसे क्रान्तिकारीसे क्रान्तिकारी विचारकको भी अपनी विचार-सबधी क्रान्तिको उस सीमाके अन्दर रखना जरूरी था, जिसके बाहर जाते ही शासक-वर्गके कोपका भाजन—चाहे सीधे राजदडके रूपमे, उसकी कृपासे वचित होनेके रूपमे, चाहे उसके स्थापित धर्म-मठ-मन्दिरमें स्थान न पानेके रूपमे—होना पडता। उस वक्त "शान्ति और व्यवस्था"की बाँह आजसे बहुत लबी थी, जिससे बचनेमे धार्मिक सहानुभूति ही थोडा बहुत सहायक हो सकती थी जिसने उसको खोया उसके जीवनका मूल्य एक घोंपिन डाकूके जीवनसे अधिक नही था।

धर्मकीर्त्ति जिस नालन्दाके रत्न थे, उसको गाँवो और नगरोंके रूपमे बडे-बडे दान देनेवाले यही सामन्त थे जिनके ताम्रपत्रपर लिखे दानपत्र आज भी हमे काफी मिले है। युन्-च्वेड्के समय (६४० ई०)मे जहाँ दस हजार विद्यार्थियो और पडितोपर जिस तरह उन्ही तरीको धन खर्च किया जाता था, यह हो नही सकता था, कि प्रमाणवार्त्तिककी पक्तियाँ इन हाथोंको भुलाकर उन्हे काटनेपर तुल जाती, इसीलिए क्रान्तिकारी (वस्तुवादी) धर्मकीर्त्ति भी दु खकी व्याख्या आध्यात्मिक तलसे ही करने छुट्टी ले लेते

है। विश्वके कारणको ईश्वर आदि छोड विश्वमे, उसके क्षुद्रतम तथा महत्तम अवयवोकी क्षणिक परिवर्तनशीलता तथा गुणात्मक परिवर्तनके रूपमे ढूँढनेवाले धर्मकीर्ति दु खके कारणको अलौकिक रूपमे—पुनर्जन्ममें—निहित बतलाकर साकार और वास्तविक दु खके लिए साकार और वास्तविक कारणके पता लगानेसे मुँह मोडते है। यदि जनताके एक तिहाई उन दासो तथा सख्यामे कम-से-कम उनके बराबरके उन आदमियोको—जो कि सूद और व्यापारके नफेके रूपमे अपने श्रमको मुफ्त देते थे—दासतासे मुक्त कर, उनके श्रमको सारी जनता—जिसमे वह खुद भी शामिल थे—के हितोमे लगाया जाता, यदि सामन्त परिवारो और वणिक्-श्रेष्ठी-परिवारोंके निठल्लेपन कामचोरपनको हटाकर उन्हे भी समाजके लिए लाभदायक काम करनेके लिए मजबूर किया जाता, तो निश्चय ही उस समयके साकार दुखकी मात्रा बहुत हद तक कम होती। हाँ, यह ठीक है, कामचोरपनके हटानेका अभी समय नही था, यह स्वप्नचारिणी योजना उस वक्त असफल होती, इसमे सन्देह नही। किन्तु यही बात तो उस वक्तकी सभी दार्शनिक उड़ानोमें सभी धार्मिक मनोहर कल्पनाओके बारेमे थी। सफल न होनेपर भी दार्शनिककी गलती एक अच्छे कामकी ओर होती है, उसकी सहृदयता और निर्भीकताकी दाद दी जाती, यदि उपेक्षा और शत्रुप्रहारसे उसकी कृतियाँ नष्ट हो जाती, तो भी खडनके लिए उद्धृत उसकी प्रतिभाके प्रखर तीर सदियोको चीरकर मानवताके पास पहुँचते, और उसे नया सदेश देते।

(३) विज्ञानवाद—सहृदय मस्तिष्कसे वास्तविक दुनिया (भौतिक वाद)को भुलाने-भुलवानेमे दार्शनिक विज्ञानवाद वही काम देता है, जो कि शराबकी बोतल कामसे चूर मजदूरको अपने कष्टोको भुलवानेमे। चाहे क्रूर दासताकी सहायतासे ही सही, मनुष्यका मस्तिष्क और हृदय तब तक बहुत अधिक विकसित हो चुका था, उसमे अपने साथी प्राणियोके लिए सवेदना आना स्वाभाविक सी बात थी। आसपासके लोगोकी दयनीय दशाको देखकर हो नही सकता था, कि वह उसे महसूस न करता, विकल न होता। जगत्को झूठा कह इस विकलताको दूर करनेमें दार्शनिक

विज्ञानवाद कुछ सहायता जरूर करता था—आखिर अभी "दार्शनिकोंका काम जगत्की व्याख्या करना था, उसे बदलना नहीं।"

धर्मकीर्त्ति वाह्यजगत्—भौतिक तत्त्वों—को अवास्तविक बतलाते हुए विज्ञान (=चित्त)को असली तत्व साबित करते है—

(क) विज्ञान ही एक मात्र तत्त्व—हम किसी वस्तु (=कपड़े)को देखते है, तो वहाँ हमे नीला, पीला रग तथा लबाई, चौडाई-मुटाई खुरदरापन-चिकनापन आदिको छोड़ केवल रूप (=भौतिक-तत्त्व) नही दिखाई पड़ता।[1] दर्शन नील आदिके तौरपर होता है, उससे रहित (वस्तु)का (प्रत्यक्ष या अनुमानसे) ग्रहण ही नही हो सकता और नीलादिके ग्रहणपर ही (उनका) ग्रहण होता है। इसलिए जो कुछ दर्शन है वह नील आदिके तौरपर है, केवल वाह्यार्थ (=भौतिक तत्व)के तौरपर नही है।[2] जिसको हम भौतिक तत्त्व या वाह्यार्थ कहते है, वह क्या है उसका विश्लेषण करें तो वहाँ आँखसे देखे रग-आकार, हाथसे छुए सख्त-नरम-चिकनापन आदि ही मिलता है, फिर यह इद्रियाँ इनके इस स्थूल रूपमे अपने निजी ज्ञान (चक्षु-विज्ञान, स्पर्श-विज्ञान...) द्वारा मनको कल्पना करनेके लिए नही प्रदान करती। मनका निर्णय इन्द्रिय चर्वित ज्ञानके पुन चर्वणपर निर्भर है; इस तरह जहाँसे अन्तिम निर्णय होता है, उस मनमे तथा जिनकी दी हुई सामग्रीके आधारपर मन निर्णय करता है, उन इन्द्रियोंके विज्ञानोंमे भी, वाह्य-अर्थ (=भौतिक तत्त्व)का पता नही, निर्णायक स्थानपर हमें सिर्फ विज्ञान (=चेतना) ही विज्ञान मिलता है, इसलिए "वस्तुओं द्वारा वही (विज्ञान) सिद्ध है, जिसने कि विचारक कहते हैं—'जैसे-जैसे अर्थों (=पदार्थों)पर चिन्तन किया जाता है, वैसे ही वैसे वह भिन्न-भिन्न हो लुप्त हो जाते है (—उनका भौतिक रूप नही सिद्ध होता)।[3]

(ख) चेतना और भौतिक तत्त्व विज्ञान हीके दो रूप—विज्ञान-का भीतरी आकार चित्त—सुख आदिका ग्राहक—है, यह तो स्पष्ट है, किन्तु

---

[1] प्रमाण-वार्त्तिक ३।२०२ [2] प्र० वा० ३।३३५ [3] प्र० वा० ३।२०९

जो वाहरी पदार्थ (=भौतिक तत्त्व घड़ा या कपड़ा) है, वह भी विज्ञानसे अलग नही वल्कि विज्ञानका ही एक दूसरा भाग है, और वाहरमें अवस्थित सा जान पड़ता है—इसे अभी वतला आए है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक ही विज्ञान भीतर (चित्तके तौरपर) ग्राहक, और वाहर (विषयके तौरपर) ग्राह्य भी है। "विज्ञान जव अभिन्न है, तो उसका (भीतर और वाहरके विज्ञान तथा भौतिक तत्त्वके रूपमें) भिन्न प्रतिभासित होना सत्य नही (भ्रम) है।"[1] "ग्राह्य (वाह्य पदार्थके रूपमें मालूम पड़नेवाला विज्ञान) और ग्राहक (=भीतरी चित्तके रूपमें विज्ञान) मेंसे एकके भी अभावमें दोनो ही नही रहते (ग्राहक नही रहेगा, तो ग्राह्य है इसका कैसे पता लगेगा? और फिर ग्राह्यके न रहनेपर अपनी ग्राहकताको दिखलाकर ग्राहक चित्त अपनी सत्ताको कैसे सिद्ध करेगा? इस तरह किसी एकके अभावमे दोनो नही रहते); इसलिए ज्ञानका भी तत्त्व है (ग्राह्य-ग्राहक) दो होनेका अभाव (=अभिन्नता)।"[2] जो आकार-प्रकार (वाहरी पदार्थोके मौजूद है, वह) ग्राह्य और ग्राहकके आकारको छोड़ (और किसी आकारमे) नही मिलते, (और ग्राह्य ग्राहक एक ही निराकार विज्ञानके दो रूप है), इसलिए आकार-प्रकारसे शून्य होनेसे (सारे पदार्थ) निराकार कहे गए है।"[3]

प्रश्न हो सकता है यदि वाह्य पदार्थोकी वस्तुसत्ताको अस्वीकार करते है, तो उनकी भिन्नताको भी अस्वीकार करना पड़ेगा, फिर वाहरी अर्थोके विना "यह घड़ा है, यह कपड़ा" इस तरह ज्ञानोंका भेद कैसे होगा? उत्तर है—

"किसी (घड़े आदि आकारवाले ज्ञान)का कोई (एक ज्ञान) है, जो कि (चित्तके) भीतरवाली वासना (=पूर्व संस्कार) को जगाता है, उसी (वासनाके जगने)मे ज्ञानो (की भिन्नता)का नियम देखा जाता है, न कि वाहरी पदार्थकी अपेक्षासे।"[4]

---

[1] प्र० वा० ३।२१२ [2] प्र० वा० ३।२१३
[3] प्र० वा० ३।२१५ [4] प्र० वा० ३।३३६

"चूँकि वाहरी पदार्थका अनुभव हमें नही होता, इसलिए एक ही (विज्ञान) दो (=भीतरी ज्ञान, वाहरी विषय)रूपोंवाला (देखा जाता) है, और दोनो रूपोंमें स्मरण भी किया जाता है। इस (एक ही विज्ञानके वाह्य-अन्तर दोनो आकारोंके होने)का परिणाम है, स्व-सवेदन (अपने भीतर ज्ञानका साक्षात्कार)।"[1]

फिर प्रश्न होता है—"(वह जो वाह्य-पदार्थके रूपमें) अवभासित होनेवाला (ज्ञान है), उसका जैसे कैसे भी जो (वाहरी) पदार्थवाला रूप (भासित हो रहा है), उसे छोड देनेपर पदार्थ (=घडे)का ग्रहण (=इन्द्रिय-प्रत्यक्ष आदि) कैसे होगा ? (आखिर अपने स्वरूपके ज्ञानके साक्षात्कारसे ही तो पदार्थोका अपना अपना ग्रहण है ?)—(प्रश्न) ठीक है, मैं भी नही जानता कैसे यह होता है। . जैसे मत्र (हेप्नोटिज्म) आदिसे जिनकी (आँख आदि) इन्द्रियोंको वाँध दिया गया है, उन्हे मिट्टीके ठीकरे (रुपया आदि) दूसरे ही रूपमे दीखते है, यद्यपि वह (वस्तुत) उस (रुपये. . .)के रूपमे रहित है।"[2]

इस तरह यद्यपि अन्तर, वाहर सभी एक ही विज्ञान तत्त्व है, किन्तु "तत्त्व-अर्थ (=वास्तविकता)की ओर न ध्यान दे हाथीकी तरह आँख मूँदकर सिर्फ लोक व्यवहारका अनुसरण करते तत्त्वज्ञानियोंको (कितनी ही वार) वाहरी (पदार्थों)का चिन्तन (=वर्णन) करना पडता है।"[3]

(४) क्षणिकवाद—बुद्धके दर्शनमे "सब अनित्य है" इस सिद्धान्तपर वहुत जोर दिया गया है, यह हम वतला आए है। इसी अनित्यवादको पीछेके वौद्ध दार्शनिकोने क्षणिकवाद कहकर उसे अभावात्मकसे भावात्मक रूप दिया। धर्मकीर्त्तिने इसपर और जोर देते हुए कहा—"सत्ता मात्रमें नाश (=धर्म) पाया जाता है।"[4] इस भावको पीछे शान्तरक्षित (७००

---

[1] प्र० वा० ३।३३७

[2] प्र० वा० ३।३५३-५५ [3] वही ३।२१९

[4] प्र० वा० १।२७२—"सत्तामात्रानुवन्धित्वात् नाशस्य"

ई०)ने कहा है—"जो (जो)सत् (=भाव रूप) है, वह क्षणिक है।"[1] "सभी संस्कार (=किए हुए पदार्थ) अनित्य है" इस बुद्धवचनकी ओर इशारा करते हुए धर्मकीर्त्तिने कहा है[2]—"जो कुछ उत्पन्न स्वभाववाला है, वह नाश स्वभाववाला है।" अनित्य क्या है, इसे बतलाते हुए लिखा है—"पहिले होकर जो भाव (=पदार्थ) पीछे नही रहता, वह अनित्य है।"[3]

इस प्रकार विना किसी अपवादके क्षणिकताका नियम सारे भाव (=सत्ता) रखनेवाले पदार्थोमे है।

(५) परमार्थ सत्की व्याख्या—अफलातूँ और उपनिषद्के दर्शनकार क्षण-क्षण परिवर्तनशील जगत् और उसके पदार्थोंके पीछे एक अपरिवर्तनशील तत्त्वको परमार्थ सत् मानते है, किन्तु बौद्ध दर्शनको ऐसे इन्द्रिय और बुद्धिकी गतिसे परे किसी तत्त्वको माननेकी ज़रूरत न थी, इसलिए धर्मकीर्त्तिने परमार्थ सत्की व्याख्या करते हुए कहा—

"अर्थवाली क्रियामे जो समर्थ है, वही यहाँ परमार्थ सत् है, इसके विरुद्ध जो (अर्थक्रियामें असमर्थ) है, वह संवृति (=फर्जी) सत् है।"[4] घडा, कपडा, परमार्थ सत् है, क्योकि वह अर्थक्रिया-समर्थ है, उनसे जल-आनयन या सर्दी-गर्मीका निवारण हो सकता है, किन्तु घड़ापन, कपडापन जो सामान्य (=जाति) माने जाते है, वह सवृति(=काल्पनिक या फर्जी) सत् है। क्योकि उनसे अर्थक्रिया नही हो सकती। इस तरह व्यक्ति और उनका नानापन ही परमार्थसत् है। "(वस्तुत. सारे) भाव (=पदार्थ) स्वय भेद (=भिन्नता) रखनेवाले हैं, किन्तु उसी सवृति (=कल्पना)से जब उनके नानापन (=अलग-अलग घडो)को ढाँक दिया जाता है, तो वह किसी (घडापन) रूपसे अभिन्नसे मालूम होने लगते है।"[5]

---

[1] "यत् सत् तत् क्षणिकं"—क्षण भंग ११ (ज्ञान श्री)
[2] प्र० वा० २।२८४-५ [3] वहीं ३।११० [4] वहीं ३।३
[5] प्र० वा० १।७१

(६) **नाश अहेतुक होता है**—क्षणिकता सारे भावों (=पदार्थों) मे स्वभावसे ही है, इसलिए नाश भी स्वाभाविक है, फिर नाशके लिए किसी हेतु या हेतुओकी जरूरत नहीं—अर्थात् नाश अहेतुक है, वस्तु की उत्पत्तिके लिए हेतु या वहुतसे हेतु (=हेतु-सामग्री) चाहिए, जिससे कि पहिले न मौजूद पदार्थ भावमे आवे। चूंकि एक मौजूद वस्तुका नाश और दूसरी ना-मौजूद वस्तुकी उत्पत्ति पास-पास होती है, इसलिए हमारी भाषामे कहनेकी यह गलत परिपाटी पड गई है, कि हम हेतुको उत्पन्न वस्तुसे न जोड नष्टसे जोड़ देते है। इसी तथ्यको साबित करते हुए धर्मकीर्त्ति कहते है—

(क) **अभाव रूपी नाशको हेतु नहीं चाहिए**—"यदि कोई कार्य (करणीय पदार्थ) हो, तो उसके लिए किसी (=कारण)की जरूरत हो सकती है, (नाश) जो कि (अभाव रूप होनेसे) कोई वस्तु ही नही है, उसके लिए कारणकी क्या जरूरत ?"[1]

"जो कार्य (=कारणसे उत्पन्न) है वह अनित्य है, जो अ-कार्य (=कारणसे नही उत्पन्न) है वह अ-विनाशी (=नित्य) है। (वस्तुका विनाश नित्य अर्थात् हमेशाके लिए होता है, इसलिए वह अ-कार्य= अ-हेतुक है; फिर इस प्रकार) अहेतुक होनेसे वह (=नाश) स्वभावत (वस्तुमात्रका) अनुसरण करता है।"[2] और इस प्रकार विनाशके लिए हेतुकी जरूरत नही।

(ख) **नश्वर या अनश्वर दोनो अवस्थाओमे भावके नाशके लिए हेतु नहीं चाहिए**—"यदि (हम उसे अनश्वर मान लें, तब) दूसरे किसी (हेतु)से भावका नाश न मानेगे, फिर ऐसे (अनश्वर भाव)की स्थिति के लिए हेतुकी क्या जरूरत ? (—अर्थात् भावका होना अहेतुक हो जायेगा)। (यदि हम भावको नश्वर मान ले, तो) वह दूसरे (हेतुओ=कारणों) के विना भी नष्ट होगा, (फिर उसकी) स्थितिके लिए हेतु असमर्थ होगे।"[3]

---

[1] प्र० वा० १।२८२　　[2] वहीं १।१६५　　[3] वहीं २।७०

"जो स्वयं अनश्वर स्वभाववाला है, उसके लिए दूसरे स्थापककी जरूरत नहीं; जो स्वयं नश्वर स्वभाववाला है, उसके लिए भी दूसरे स्थापककी ज़रूरत नहीं ।"[१] इस तरह विनाशको नश्वर स्वभाववाला माने या अनश्वर स्वभाववाला, दोनो हालतोमें उसे स्थित रखनेवाले हेतुकी ज़रूरत नही ।

(a) भावके स्वरूपसे नाश भिन्न हो या अभिन्न, दोनों अवस्थाओंमें नाश अहेतुक—आग और लकड़ी एकत्रित होती है, फिर हम लकड़ीका नाश और कोयले-राखकी उत्पत्ति देखते है । इसीको हम व्यवहारकी भापामे "आगने लकड़ीको जला दिया—नष्ट कर दिया" कहते है, किंतु वस्तुतः कहना चाहिए "आगने कोयले-राखको उत्पन्न किया ।" चूँकि लकड़ी हमारी नजरमे कोयले-राखसे अधिक उपयोगी (=मूल्यवान्) है, इसीलिए यहाँ भापा द्वारा हम अपने लिए एक उपयोगी वस्तुको खो देनेपर ज्यादा जोर देते है । यदि कोयला-राख लकड़ीसे ज्यादा उपयोगी होते तो हम "आगने लकड़ीका नाश कर दिया"की जगह कहते "आगने कोयला-राखको वनाया ।" वस्तुत जंगलोमे जहाँ मजदूर लकड़ीकी जगह कोयला वनाकर वेचनेमें ज्यादा लाभ देखते है, वहाँ "क्या काम करते हो" पूछनेपर यह नहीं कहते कि "हम लकड़ीका नाश करते है," वल्कि कहते है "हम कोयला वनाते है ।" ताताके कारखानेमें (लोहेवाले) पत्थरका नाश और लोहे या फौलादका उत्पादन होता है; किन्तु वहाँ नाशको स्वाभाविक (=अहेतुक) समझकर उसकी वात न कह, यही कहा जाता है, कि ताता प्रति वर्ष इतने करोड मन लोहा और इतने लाख मन फौलाद वनाता है । इसी भावको हमारे दार्शनिकने समझानेकी कोशिश की है ।

प्रश्न है—आग (=कारण, हेतु) क्या करती है लकडीका विनाश या कोयलेकी उत्पत्ति ? आप कहते है, लकड़ीका विनाश करती है । फिर सवाल होता है विनाश लकड़ीसे भिन्न वस्तु है या अभिन्न ? अभिन्न माननेपर

---

[१] वहीं २।७२

आग जिस विनाशको उत्पन्न करती है वह काष्ठ ही हुआ, फिर तो "विनाश होनेका मतलब काष्ठका होना हुआ, अर्थात् काष्ठका विनाश नहीं हुआ, फिर काष्ठके अविनाशसे काष्ठका दर्शन होना चाहिए। "यदि (कहो) वही (आगसे उत्पन्न वस्तु काष्ठका) विनाश है, (इसलिए काष्ठका दर्शन नहीं होता, तो फिर प्रश्न होगा—) "कैसे (विनाशरूपी) एक पदार्थ (काष्ठ रूपी) दूसरे (पदार्थ)का विनाश होगा ? (और यदि नाश एक भाव पदार्थ है, तो) काष्ठ क्यों नहीं दिखाई देता ?"[1]

(b) विनाश एक भिन्न ही भावरूपी वस्तु है यह माननेसे भी काम नहीं चलता—यदि कहो, विनाश (सिर्फ काष्ठका अभाव नहीं बल्कि) एक दूसरा ही भावरूपी पदार्थ है, और "उस (भाव रूपी विनाश नामवाले दूसरे पदार्थ)के द्वारा ढँका होनेसे (काष्ठ हमें नहीं दिखलाई देता), (तो यह भी ठीक नहीं), उस (एक दूसरे भाव=नाश)से (काष्ठका) आवरण (=आच्छादन) नहीं हो सकता, क्योंकि (ऐसा माननेपर नाशको वस्तुका आवरण मानना पड़ेगा, फिर तो वह) विनाश ही नहीं रह जायेगा (=विनष्ट हो जायगा)"[2] और इस प्रकार आग काष्ठके विनाशको उत्पन्न करती है, कर्मके अभावमें यह कहना भी गलत है।

और यदि आग द्वारा नाशकी उत्पत्ति माने, तो "उत्पन्न होनेके कारण" उसे नाशमान मानना पड़ेगा, क्योंकि जितने उत्पत्तिमान् भाव (=पदार्थ) है, सभी नाशमान होते है। "और फिर (नाशमान होनेसे जब नष्ट हो जाता है) तो (आवरण-मुक्त होनेसे) काष्ठका दर्शन होना चाहिए।

यदि कहो—नाश रूपी भाव पदार्थ काष्ठका हन्ता है। रामने श्यामको मार डाला (=नष्ट कर दिया), फिर न्यायाधीश रामको फाँसी चढ़ा देता है; किंतु रामके फाँसी चढ़ा देने—"हन्ताके नाश हो जाने—पर जैसे मृत (=नष्ट श्याम)का फिरसे अस्तित्वमें आना नहीं होता, उसी तरह यहाँ

---

[1] प्र० वा० ११२७३ [2] वही ११२७४

भी"[१] (नश्वर स्वभाववाले नाश पदार्थके नष्ट हो जानेपर भी काष्ठ फिरसे अस्तित्वमे नही आता)।

किन्तु, यह दृष्टान्त गलत है ? राम श्यामके नाशमे "हन्ता (=राम) =(श्यामका) मरण नही है,"[२],वल्कि श्यामका मरण है अपने प्राण, इन्द्रिय आदिका नाश होना। यदि श्यामके प्राण-इन्द्रिय आदिका नाश होना हटा दिया जाये, तो श्याम जरूर अस्तित्वमे आ जायगा। किन्तु यहाँ आप 'नाश पदार्थ=काष्ठका मरण' मानते है, इसलिए नाश पदार्थके नष्ट हो जानेपर काष्ठको फिरसे अस्तित्वमें आना चाहिए।

(c) 'नाश=एक अभिन्न भावरूपी वस्तु' यह माननेसे भी काम नहीं चलेगा—"यदि (मानें कि) विनाश (भावरूपी वस्तु काष्ठसे) अभिन्न है, तो 'नाश=काष्ठ' है। तो (काष्ठ)=(नाश=) अ-सत्, अतएव (नाशक आग) उसका हेतु नही हो सकती।"

"नाशको (काष्ठसे) भिन्न या अभिन्न दो छोड़ और नही माना जा सकता," और हमने ऊपर देख लिया कि दोनो ही अवस्थाओमें नाशके लिए हेतु (=कारण)की जरूरत नही, अतएव नाश अहेतुक होता है।

यदि कहो—"नाशके अहेतुक माननेपर (वह) नित्य होगा, फिर (काष्ठका) भाव और नाश दोनो एक साथ रहनेवाले मानने पड़ेगें।" तो यह शका ही गलत बुनियाद पर है, क्योंकि (नाश तो) असत् है (=अभाव) है, उसकी नित्यता कैसे होगी,"[२] नित्य-अनित्य होनेका सवाल भाव पदार्थके लिए होता है, गदहेकी सींग—अ-सत् पदार्थ—के लिए नही।

(७) कारण-समूहवाद—कार्य एकसे नही वल्कि अनेक कारणोके इकट्ठा होने—कारण-सामग्री—से उत्पन्न होता है, अर्थात् अनेक कारण मिलकर एक कार्यको उत्पन्न करते हैं। इस सिद्धान्त द्वारा बौद्ध दार्शनिक जहाँ जगत्मे प्रयोगतः सिद्ध वस्तुस्थितिकी व्याख्या करते है, वहाँ किसी एक

---

[१] प्र० वा० १।२७४, २७५ , [२] प्र० वा० १।२७५-२७७

ईश्वरके कर्त्तापनका भी खंडन करते हैं। साथ ही यह भी बतलाते हैं कि स्थिरवाद—चाहे वह परमाणुओंका हो या ईश्वरका—कारणोंकी सामग्री (=इकट्ठा होनेको) अस्तित्वमें नहीं ला सकता, यह क्षणिकवाद ही है जो कि भावोंकी क्षणिकता—देश और कालमें गति—की वजहसे कारणोंकी सामग्री (=इकट्ठा होना) करा सकता है।

"कोई भी एक (वस्तु) एक (कारण)से नहीं उत्पन्न होती, बल्कि सामग्री (=बहुतसे कारणोंके इकट्ठा होने)से (एक या अनेक) सभी कार्योंकी उत्पत्ति होती है।"[1]

"कार्योंके स्वभावों (=स्वरूपों)मे जो भेद है, वह आकस्मिक नहीं, बल्कि कारणो (=कारण-सामग्री)से उत्पन्न होता है। उनके बिना (=कारणोंके बिना, किसी दूसरेसे) उत्पन्न होना (माने तो कार्यके) रूप (=कोयले)को उस (आग)से उत्पन्न कैसे कहा जायगा ?"[2]

"(चूँकि) सामग्री (=कारण-समुदाय)की शक्तियाँ भिन्न-भिन्न होती है, (अत) उन्हींकी वजहसे वस्तुओं (=कार्यों)में भिन्न-रूपता दिखलाई पडती है। यदि वह (अनेक कारणोंकी सामग्री) भेद करनेवाली न होती, तो यह जगत् (विश्व-रूप नही) एक-रूप होता।"[3]

मिट्टी, चक्का, कुम्हार अलग-अलग (किसी घडे जैसे भिन्न रूपवाले) कार्यके करनेमे असमर्थ है, किन्तु उनके (एकत्र) होनेपर कार्य होता है, इससे मालूम होता है, कि सहत (=एकत्रित) हुई उन (=क्षणिक वस्तुओं)मे हेतुपन (=कारणपन) है, ईश्वर आदिमें नहीं, क्योंकि (ईश्वर आदिमें क्षणिकता न होनेसे) अभेद (=एक-रूपता) है।"[4]

(८) **प्रमाणपर विचार**—मानवका ज्ञान जितना ही बढता गया उतना ही उसने उसके महत्त्वको समझा, और अपने जीवनके हर क्षेत्रमें मस्तिष्कको अधिक इस्तेमाल किया। यही ज्ञानकी महिमा आगे प्रयोगसिद्ध

---

[1] प्र० वा० ३।५३६ [2] वहीं ४।२४८ [3] वहीं ४।२४९
[4] वहीं २।२८

नही कल्पना-सिद्ध रूपमे धर्म तथा धर्म-सहायक दर्शनमे परिणत हुई, यह हम उपनिषद्कालमे देख चुके है ? उपनिपद्के दार्शनिकोका जितना ज़ोर ज्ञानपर था, वुद्धका उससे भी कही अधिक उसपर जोर था, क्योकि अविद्याको वह सारी वुराइयोकी जड मानते थे और उसके दूर करनेके लिए आर्य-सत्य या निर्दोप ज्ञानको वहुत जरूरी समझते थे। पिछली शताव्दियोमें जव भारतीयोको अरस्तूके तर्कशास्त्रके सपर्कमे आनेका मौका मिला, तो ज्ञान और उसकी प्राप्तिके साधनोकी ओर उनका ध्यान अधिक गया, यह हम नागार्जुन, कणाद, अक्षपाद आदिके वर्णनमें देख आए है। वसुवधु, दिग्नाग, धर्मकीर्त्तिने इसी वातको अपना मुख्य विषय वनाकर अपने प्रमाण-शास्त्रकी रचना की। दिग्नागने अपने प्रधान ग्रथका नाम "प्रमाणसमुच्चय" क्यो रखा, धर्मकीर्त्तिने भी उसी तरह अपने श्रेष्ठ ग्रथका नाम प्रमाणवार्त्तिक क्यो घोपित किया, इसे हम उपरोक्त वातोपर ध्यान रखते हुए अच्छी तरह समझ सकते है।

प्रमाण—प्रमाण क्या है ? धर्मकीर्त्तिने उत्तर दिया[1]—"(दूसरे जरिएसे) अज्ञात अर्थके प्रकाशक, अ-विसंवादी (=वस्तु-स्थितिके विरुद्ध न जानेवाले) ज्ञानको कहते है।" अ-विसंवाद क्या है ?—"(ज्ञानका कल्पनाके ऊपर नही) अर्थ-क्रियाके ऊपर स्थित होना।" इसीलिए किसी ज्ञानकी "प्रमाणता व्यवहार (=प्रयोग, अर्थक्रिया)से होती है।"[2]

(प्रमाण-संख्या)—हम देख चुके है, अन्य भारतीय दार्शनिक शव्द, उपमान, अर्थापत्ति आदि कितने ही और प्रमाणोको भी मानते हें। धर्मकीर्त्ति अर्थक्रिया या प्रयोगको परमार्थ सत्की कसौटी मानते थे, इसलिए वह ऐसे ही प्रमाणोको मान सकते थे, जो कि अर्थ-क्रियापर आधारित हो।

"(पदार्थ—अलग-अलग लेनेपर स्व-लक्षण—शव्द आदिके प्रयोगके विना केवल अपने रूपमे—मिलते है, अथवा कइयोके वीचके सादृश्यको

---

[1] प्र० वा० २।१ [2] वहीं २।४

लेनेपर सामान्य लक्षण—अनेकोंमे उनके आकारकी समानता—ये मिलते है, इस प्रकार) विषयके (सिर्फ) दो ही प्रकार होनेसे प्रमाण भी दो प्रकार-का ही होता है। (इनमें पहिला प्रत्यक्ष है और दूसरा अनुमान। प्रत्यक्षका आधार वस्तुका स्वलक्षण—अपना निजी स्वरूप—है, और यह स्वलक्षण) अर्थक्रियामे समर्थ होता है, (अनुमानका आधार सामान्य-लक्षण—अनेक वस्तुओंमे समानरूपता—है, और यह सामान्य लक्षण अर्थक्रियामे) असमर्थ होता है।"[1]

(क) **प्रत्यक्ष प्रमाण**—ज्ञानके साधन दो ही है, प्रत्यक्ष या अनुमान। प्रत्यक्ष क्या है?—"(इन्द्रिय, मन और विषयके संयोग होनेपर) कल्पनासे बिलकुल रहित (जो ज्ञान होता है) तथा जो (किसी दूसरे साधन द्वारा) अज्ञात अर्थका प्रकाशक है वह प्रत्यक्ष है, और वह (कल्पना नहीं) सिर्फ प्रति-अक्षसे ही सिद्ध होता है।" इस तरह प्रत्यक्ष वह अ-विसंवादी (=अर्थ-क्रियाका अनुसरण करनेवाला) अज्ञात अर्थका प्रकाशक ज्ञान है, जो कि विषयके संपर्कसे उस पहिले क्षणमें होता है, जब कि कल्पनाने वहाँ दखल नहीं दिया। धर्मकीर्त्तिने दिग्नागकी तरह प्रत्यक्षके चार भेद माने है—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष और योगि-प्रत्यक्ष असंगके लोक-प्रत्यक्षका पता नहीं।

(a) **इंद्रिय-प्रत्यक्ष**—"चारो ओरसे ध्यान (=चिन्तन)को हटाकर (कल्पनासे मुक्त होनेके कारण) निश्चल (=स्थिमित) चित्तसे स्थित हुआ (पुरुष) रूपको देखता है, यही इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान है।"[2] इन्द्रिय-प्रत्यक्ष हो जानेके "पीछे (जब वह) कुछ कल्पना करता है, और यह जानता है—मेरे (मनमे) ऐसी कल्पना (=यह ज्ञान आकार प्रकारका होनेसे ऐसा है) हुई थी, किन्तु (यह बात) पूर्वोक्त इन्द्रियसे (उत्पन्न) ज्ञानके बारे नहीं होती।"[3] "इसीलिए सारे (चक्षु आदि वाले) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष (स्वलक्षण-) विशेष (मात्र)के बारेमे होते है, विशेष (वस्तुओंका स्वरूप सामान्यरूप

---

[1] प्र० वा० ३।१   [2] वही ३।१२४   [3] वही ३।१२४

मुक्त सिर्फ स्वलक्षण मात्र है, इसलिए उन)में शब्दोका प्रयोग नही हो सकता।"[1] "इस (=घट वस्तु)का यह (वाचक, घट शब्द) है इस तरह (वाच्य-वाचकका जो)सबध(है, उस)मे जो दो पदार्थ प्रतिभासित हो रहे है, उन्ही (वाच्य-वाचक पदार्थो)का (वह) सबध है, (और जिस वक्त उस वाच्य-वाचक सबधकी ओर मन कल्पना दौडाता है) उस वक्त (वस्तु) इन्द्रियके सामनेसे हट गई रहती है (और मन अपने संस्कारके भीतर अवस्थित ताजे और पुराने दो कल्पना-चित्रोको मिलाकर नाम देनेकी कोशिशमे रहता है)।"[2]

"(शकर स्वामी जैसे कुछ बौद्ध प्रमाणशास्त्री, प्रत्यक्ष-ज्ञानको) इन्द्रिय-ज... होनेसे (शब्दके ज्ञानसे वचित) छोटे बच्चेके ज्ञानकी भाँति कल्पना-रहित (ज्ञान) बतलाते है, और बच्चेके (ज्ञानको इस तरह) कल्पना-रहित होनेमें (वाच्य-वाचक रूपसे शब्द-अर्थ सबधके) सकेतको कारण कहते है। ऐसोको(मतमें) कल्पनाके (सर्वथा) अभावके कारण बच्चोका (सारा ज्ञान) सिर्फ प्रत्यक्ष ही होगा; और (बच्चोको) सकेत (जानने)के लिए कोई उपाय न होनेसे पीछे (बड़े होनेपर) भी वह (=सकेत-ज्ञान) नही हो सकेगा।"[3]

(b) **मानस-प्रत्यक्ष**—दिग्नागने प्रमाणसमुच्चयमे मानस-प्रत्यक्षकी व्याख्या करते हुए कहा[4]—"पदार्थके प्रति राग आदिका जो (ज्ञान) है, वही (कल्पनारहित ज्ञान) मानस(-प्रत्यक्ष) है।" मानस प्रत्यक्ष स्वतंत्र प्रत्यक्ष नही रहेगा, यदि "पहिलेके इन्द्रिय द्वारा ज्ञात (अर्थ)को ही ग्रहण करे, क्योकि ऐसी दशामे (पहिलेसे ज्ञात अर्थका प्रकाशक होनेसे अज्ञात-अर्थ-प्रकाशक नही अतएव वह) प्रमाण नही होगा। यदि (इन्द्रिय-ज्ञान द्वारा) अ-दृष्टको (मानस-प्रत्यक्ष) माना जाये, तो अंधे आदिको भी

---

[1] प्र० वा० ३।१२५, १२७ [2] वहीं ३।१२६
[3] वहीं ३।१४१-१४२ [4] "मानसं चार्थरागादि।"

(रूप आदि) अर्थोंका दर्शन (होता है यह) मानना होगा।'[1] इस लक्षणको ख्याल कर धर्मकीर्त्ति मानस-प्रत्यक्षकी व्याख्या करते हैं—

"(चक्षु आदि) इन्द्रियसे जो (विषयका) विज्ञान हुआ है, उसीको अनन्तर-प्रत्यय (=तुरन्त पहिले गुजरा कारण) बना, जो मन (=चेतना) उत्पन्न हुआ है, वही (मानस-प्रत्यक्ष है)। चूँकि (चक्षु आदि इन्द्रियोंसे ज्ञात रूप आदि जानने) भिन्नको (मन प्रत्यक्षमें) ग्रहण करता है (इस-लिए, वह ज्ञात अर्थका प्रकाशन नहीं, साथ ही मन द्वारा प्रत्यक्ष होनेवाले रूप आदिके विज्ञान इन्द्रियसे ज्ञात उन रूप आदिसे सम्बद्ध हैं, जिससे कि अंधे आदि नहीं देख सकते, इसलिए) अन्धेके अर्थोंको (रूप . . .) देखनेकी बात नहीं आती।"[2]

(c) स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष—दिग्नागने इसका लक्षण करते हुए कहा—

"(चक्षु-इन्द्रियसे गृहीत रूपका ज्ञान मनसे गृहीत रूप-विज्ञानका ज्ञान होनेके बाद रूप आदि) अर्थके प्रति अपने भीतर जो राग (द्वेष) आदिका संवेदन (=अनुभव) होता है, (वही) कल्पना-रहित (ज्ञान) स्वसंवेदन (-प्रत्यक्ष) है।"[3] इसके अर्थको अपने वार्तिकसे स्पष्ट करते हुए धर्म-कीर्त्तिने कहा—

"राग (सुख) आदिके जिस स्वरूपको (हम अनुभव करते हैं उसे) किसी दूसरे (इन्द्रिय आदिसे) सम्बद्ध नहीं रखता, अतः उसके स्वरूपमें और (वाच्य-वाचक) संकेतका प्रयोग नहीं हो सकता, (और इसीलिए) इसका जो अपने भीतर संवेदन होता है, वह (वाचक शब्दसे) प्रकट होने लायक नहीं है।"[4] इस तरह अज्ञात अर्थका प्रकाशक कल्पनारहित तथा अवि-संवादी होनेसे राग-सुख आदिका जो अनुभव हम करते हैं, वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी इन्द्रिय-और मानस-प्रत्यक्षसे भिन्न एक प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष

---

[1] प्र० वा० ३।२३६ [2] वही ३।२४३
[3] "अर्थरागादि स्वसंवित्तिरकल्पिका"—प्रमाण-समुच्चय।
[4] प्र० वा० ३।२४९

मे हम किसी इन्द्रियके एक विषय (=रूप, गध)का ज्ञान प्राप्त करते हैं, मानस प्रत्यक्ष हमे उससे आगे बढकर इन्द्रियसे जो यह ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसका अनुभव कराता है, और इस प्रकार अब भी उसका सबध विषयसे जुडा हुआ है। किन्तु, स्वसवेदन प्रत्यक्षमे हम इन्द्रियके (रूप-)ज्ञान और उस इन्द्रिय-ज्ञानके ज्ञानसे आगे तथा बिल्कुल भिन्न राग-द्वेप, या सुख-दुख. . .का प्रत्यक्ष करते हैं।

(d) **योगि-प्रत्यक्ष**[1]—उपरोक्त तीन प्रकारके प्रत्यक्षोके अतिरिक्त बौद्धोने एक चौथा प्रत्यक्ष योगि-प्रत्यक्ष माना है। अज्ञात-प्रकाशक अविसवादी—प्रत्यक्षोके ये विशेपण यहाँ भी लिए गए है, साथ ही कहा है—"उन (योगियो)का ज्ञान भावनासे उत्पन्न कल्पनाके जालसें रहित स्पष्ट ही भासित होता है। (स्पष्ट इसलिए कहा कि) काम, शोक, भय, उन्माद, चोर, स्वप्न आदिके कारण भ्रममें पड़े (व्यक्ति) अ-भूत (=अ-सत्) पदार्थोंको भी सामने अवस्थितकी भाँति देखते है, लेकिन वह स्पष्ट नही होते। जिस (ज्ञान)मे विकल्प (=कल्पना) मिला रहता है, वह स्पष्ट पदार्थके रूपमे भासित नही होता। स्वप्नमे (देखा पदार्थ) भी स्मृतिमे आता है, किन्तु वह (जागनेकी अवस्थामे) वैसे (=विकल्परहित) पदार्थके साथ नही स्मरणमे आता।"[2]

समाधि (=चित्तकी एकाग्रता) आदि भावनासे प्राप्त जितने ज्ञान है, सभी योगि-प्रत्यक्ष-प्रमाणमे नही आते; बल्कि "उनमें वही भावनासे उत्पन्न (ज्ञान) प्रत्यक्ष-प्रमाणसे अभिप्रेत है, जो कि पहिले (अज्ञात-प्रकाशक आदि)की भाँति सवादी (=अर्थक्रियाको अनुसरण करनेवाला) हो; बाकी (दूसरे, भावनासे उत्पन्न ज्ञान) भ्रम है।"[3]

प्रत्यक्ष ज्ञान होनेके लिए उसे कल्पना-रहित होना चाहिए, इसपर जोर दिया गया है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तक कल्पनासे रहित होना आसानीसे समझा जा सकता है, क्योकि वहाँ हम देखते है कि सामने घड़ा देखनेपर नेत्रपर पड़े

---

[1] Intuition. [2] प्र० वा० ३।२८१-२८३ [3] प्र० वा० ३।२८६

घड़ेके प्रतिबिंबका जो पहिला दबाव ज्ञानतन्तुओं द्वारा हमारे मस्तिष्क पर पड़ता है, वह कल्पना-रहित होता है। पहिले दबावके बाद एक छाप (=प्रतिबिंब) मस्तिष्कपर पड़ता है, फिर मस्तिष्कमें [illegible] पहिलेके देखे घड़ोंके जो प्रतिबिंब (या प्रतिबिंब-सन्तान) मौजूद हैं, उनसे इस नए प्रतिबिंब (या लगातार पड़ रहे प्रतिबिंब-सन्तान)को मिलाया जाता है—अब यहाँ कल्पनाका आरम्भ हो गया। फिर जिस प्रतिबिंबसे यह नया प्रतिबिंब मिल जाता है, उसके नामका स्मरण होता है, फिर इस नए प्रतिबिंबवाले पदार्थका नामकरण किया जाता है। जहाँ वहाँ तक कल्पनारहित ज्ञान रहा, और वहाँसे कल्पना शुरू हुई, यह समझना उस प्रथम दबावके द्वारा आसान है, किन्तु जहाँ बाहरी वस्तुके दबावकी बात नहीं रहती, वहाँ कल्पनाके आरम्भकी सीमा निर्धारित करना—खासकर योगिप्रत्यक्ष जैसे ज्ञानमें—बहुत कठिन है। इसीलिए कल्पनाकी व्याख्या करते हुए धर्मकीर्त्तिने लिखा—

"जिस (विषय, वस्तु)में जो (ज्ञान, दूसरेसे पृथक् करनेवाले) शब्द-अर्थ (के संबंध)को ग्रहण करनेवाला है, वह ज्ञान उस (विषय)में कल्पना है। (वस्तुका) अपना रूप शब्दार्थ (=शब्दका विषय) नहीं होता, इसलिए वहाँका सारा (ज्ञान) प्रत्यक्ष है।"[1]

इस तरह चाहे ज्ञानका विषय बाहरी वस्तु हो अथवा भीतरी विज्ञान, जब तक समानता असमानताको लेकर व्यवहार होनेवाले शब्दोंको अवकाश नहीं मिल रहा है, तब तक वह प्रत्यक्षकी सीमाके भीतर रहता है।

(प्रत्यक्षाभास)—चार प्रकारके प्रत्यक्षज्ञानको बतला चुके। कितने ज्ञान ऐसे भी हैं, जो प्रत्यक्ष-प्रमाण नहीं हैं, और देखनेमें प्रत्यक्षसे लगते हैं; ऐसे प्रत्यक्षाभासोंका भी परिचय होना जरूरी है, जिससे कि हम गलत रास्ते पर न चले जायें। दिग्नागने ऐसे प्रत्यक्षाभासोंकी संख्या चार बतलाई

[1] प्र० वा० ३।२८७

हैं[1]—"भ्रान्तिज्ञान संवृत्तिमत्-ज्ञान अनुमानानुमानिक-स्मार्ताभिलापिक और तैमिरि ज्ञान।" (१) भ्रान्तिज्ञान मरुभूमिकी वालुकामें जलका ज्ञान है। (२) सवृत्तिवाला ज्ञान फर्जी द्रव्यके गुण आदिका ज्ञान—"यह अमुक द्रव्य है, अमुक गुण है।" (३) अनुमान (=लिंग, धूम) आनुमानिक (=लिंगी आग)के सकेतवाटी स्मृतिके अभिलाप (=वचनके विपय) वाला ज्ञान—"यह घड़ा है।" (४) तैमिरि ज्ञान वह ज्ञान है जो कि इन्द्रियमे किसी तरहके विकारके कारण होता है, जैसे कामला रोगवालेको सभी चीजे पीली मालूम होती है। इनमें पहिले "तीन प्रकारके प्रत्यक्षा भास कल्पना-युक्त ज्ञान हैं, (जो कल्पनायुक्त होनेके कारण ही प्रत्यक्षके भीतर नही गिने जा सकते); और एक (=तैमिरि) कल्पना-रहित है किन्तु आश्रय (=इन्द्रिय)मे (विकार होनेके कारण उत्पन्न होता है) इस लिए प्रत्यक्ष ज्ञानमे नही आ सकता—ये हैं चार प्रकारके प्रत्यक्षाभास।"[2]

(ख) अनुमान-प्रमाण—अग्निका ज्ञान दो प्रकारसे हो सकता है, एक अपनें स्वरूपसे, जैसा कि प्रत्यक्षसे देखनेपर होता है, दूसरा, दूसरेके रूपसे, जैसे धुआँ देखनेपर एक दूसरी (=रसोईघरकी) आगका रूप याद आता है, और इस प्रकार दूसरेके रूपसे इस धुएँके लिंग (=चिह्न)वाली आगका ज्ञान होता है—यह अनुमान है। चूँकि पदार्थका "स्वरूप और पर-रूप दो ही तरहसे ज्ञान होता है, अत. प्रमाणके विषय (भेद) दो ही प्रकारके होते है"[3]—एक प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय और दूसरा अनुमानका विपय।

किन्तु "(जो स्वरूपसे, अनुमान ज्ञान होता) है, वह जैसी (वस्तुस्थिति) हैं, उसके अनुसार नही लिया जाता, इसलिए (यह) दूसरे तरहका (ज्ञान) भ्रान्ति है। (फिर प्रश्न होता है) यदि (वस्तुका अपने-नही) पर-रूपसे

---

[1] "भ्रान्तिसंवृत्तिसज्ज्ञानं अनुमानानुमानिकम्। स्मार्ताभिलापिकं चेति प्रत्यक्षाभं सतैमिरम्।"—प्रमाण-समुच्चय।

[2] प्र० वा० ३।२८८   [3] प्र० वा० ३।५४

ज्ञान होता है, तो (वह भ्रान्ति है) और भ्रान्तिको प्रमाण नहीं कह सकते (क्योंकि वह अ-विसवादी नही होगी)। (उत्तर है—) भ्रान्तिको भी प्रमाण माना जा सकता है, यदि (उस ज्ञानका) अभिप्राय (जिस अर्थसे है, उस अर्थ)से अ-विसवाद न हो (=उसके विरुद्ध न जाये, क्योंकि) दूसरे रूपसे पाया ज्ञान भी (अभिप्रेत अर्थका सवादी) देखा जाता है।"[1] यही पहाडमे देखे धुएँवाली आगके ज्ञानको हम अपने रूपसे नही पा, रसोईघर वाली आगके रूपके द्वारा पाते है, परन्तु हमारे इस अनुमान ज्ञानसे जो अभिप्रेत अर्थ (पहाडकी आग) है, उससे उसका विरोध नही है।

(a) **अनुमानकी आवश्यकता**—"वस्तुका जो अपना स्वरूप (=स्वलक्षण) है, उसमे कल्पना-रहित प्रत्यक्ष प्रमाणकी जरूरत होती है (यह बतला चुके है); किन्तु (अनेक वस्तुओके भीतर जो) सामान्य है, उसे कल्पनाके विना नही ग्रहण किया जा सकता इसलिए इस (सामान्यके ज्ञान)मे अनुमानकी जरूरत पडती है।"[2]

(b) **अनुमानका लक्षण**—किसी "सबधी (पदार्थ, धूमसे सबध रखनेवाली आग)के धर्म (=लिग, धूम)से धर्मी (=धर्मवाली, आग)के विषयमें (जो परोक्ष) ज्ञान होता है, वह अनुमान है।"[3]

पहाडमें हम दूरसे धुआँ देखते है, हमे रसोईघर या दूसरी जगह देखी आग याद आती है, और यह भी कि "जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग होती है" फिर धुएँको हेतु बनाकर हम जान जाते है कि पर्वतमे आग है। यहाँ आग परोक्ष है, इसलिए उसका ज्ञान उसके अपने स्वरूपसे हमें नही होता, जैसा कि प्रत्यक्ष आगमे होता है; दूसरी बात है कि हमे यह ज्ञान सद्य नहीं होता, बल्कि उसमे स्मृति, शब्द-अर्थ-सबध—अर्थात् कल्पना—का आश्रय

---

[1] वहीं ३।५५, ५६ - [2] प्र० वा० ३।७५

[3] वहीं ३।६२ "अटूट संबंधवाले (दो) पदार्थों (मेंसे एक)का दर्शन उस (=संबंध)के जानकारके लिए अनुमान होता है" ("अनन्तरीयकार्थ-दर्शनं तद्विदोऽनुमानम्"—वसुबन्धुकी वादविधि)।

लेना पडता है।

(प्रमाण दो ही)—प्रमाण द्वारा ज्ञेय (=प्रमेय) पदार्थ स्वरूप और पर-रूप (=कल्पना-रहित, कल्पना-युक्त) दो ही प्रकारसे जाने जाते हैं। इनमे पहिला प्रत्यक्ष रहते जाना जाता है, दूसरा परोक्ष (अ-प्रत्यक्ष) रहते। "प्रत्यक्ष और परोक्ष छोड और कोई (तीसरा) प्रमेय सभव नही है, इसलिए प्रमेयके (सिर्फ) दो होनेके कारण प्रमाण भी दो ही होते है। दो तरहके प्रमेयोके देखनेसे (प्रमाणोकी) सख्याको (बढाकर) तीन या (घटाकर) एक करना भी गलत है।"[1]

(c) अनुमानके भेद—कणाद, अक्षपादने अनुमानको एक ही माना था, इसलिए अपने पूर्ववर्ती "ऋषियो"के पदपर चलते हुए प्रशस्तपाद जैसे थोडेसे अपवादोके साथ आज तक ब्राह्मण नैयायिक उसे एकही मानते आ रहे हैं। अनुमानके स्वार्थ-अनुमान, परार्थ-अनुमान ये दो भेद पहिलेपहिल आचार्य दिग्नागने किया।[2] दो प्रकारके अनुमानोमे स्वार्थ-अनुमान वह अनुमान है, जिसमे तीन प्रकारके हेतुओं (=लिंगो, चिह्नो, धूम आदि) से किसी प्रमेयका ज्ञान अपने लिए (=स्वार्थ) किया जाता है।[3] परार्था-नुमानमें उन्ही तीन प्रकारके हेतुओ द्वारा दूसरेके लिए (=परार्थ) प्रमेयका ज्ञान कराया जाता है।

(d) हेतु (=लिंग) धर्म—पदार्थ (=प्रमेय) के जिस धर्मको हम देखकर कल्पना द्वारा उसके अस्तित्वका अनुमान करते है, वह हेतु है। अथवा "पक्ष (=आग) का धर्म हेतु है, जो कि पक्ष (=आग) के अश (=धर्म, धूम) से व्याप्त है।"[4]

"हेतु सिर्फ तीन तरहके होते हैं"[5]—कार्य-हेतु, स्वभाव-हेतु, और अनुपलब्धि-हेतु। हम किसी पदार्थका अनुमान करते है उसके कार्यसे—"पहाडमे आग है धुआँ होनेसे"। यहाँ धुआँ आगका कार्य है, इस तरह

---

[1] प्र० वा० ३।६३, ६४ [2] धर्मोत्तर (न्यायबिन्दु, पृ० ४२)
[3] देखो, न्यायबिन्दु २।३ [4] प्र० वा० १।३ [5] वहीं

कार्यसे उसके कारण (=आग)का हम अनुमान करते हैं। इसलिए "धुआँ होनेसे" यह हेतु कार्य-हेतु है।

"यह सामनेकी वस्तु वृक्ष है, शीशम होनेसे" यहाँ "शीशम होनेसे" हेतु दिया गया है। वृक्ष सारे शीशमोंका स्वभाव (=स्व-रूप) है, सामनेकी वस्तुको यदि हम शीशम समझते हैं, तो उसे इस स्वभाव-हेतुके कारण वृक्ष भी मानना पड़ेगा।

"मेजपर गिलास नहीं है", "उपलब्धि-योग्य स्वरूपवाली होनेपर भी उसकी उपलब्धि न होनेसे"। यह अनुपलब्धि हेतुका उदाहरण है। गिलास ऐसी वस्तु है, जो कि वहाँ होनेपर दिखाई देगा, उसके न दिखाई देने (उपलब्धि न होने)का मतलब है, कि वह मेजपर नहीं है। गिलासकी अनुपलब्धि यहाँ हेतु बनकर उसके न होनेको सिद्ध करती है।

अनुमानसे किसी बातको सिद्ध करनेके लिए कार्य-, स्वभाव-, अनुपलब्धिके रूपमें तीन प्रकारके हेतु इसीलिए होते हैं, क्योंकि हेतुवाले इन धर्मोंके बिना धर्मी (=साध्य, आग) कभी नहीं होता—इस धर्मका धर्मीके साथ अ-विनाभाव संबंध है। हम जानते हैं "जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग जरूर रहती है", "जो जो शीशम है वह वृक्ष जरूर होता है", "आँखमें दिखाई पड़नेवाला गिलास होनेपर जरूर दिखाई देता है, न दिखाई देनेका मतलब है नहीं होना।"

(९) मन और शरीर (क) एक दूसरेपर आश्रित—मन और शरीर अलग हैं या एक ही है, इसपर भी धर्मकीर्त्तिने अपने विचार प्रकट किए हैं। बौद्ध-दर्शनके बारेमें लिखते हुए हम पहिले बतला चुके हैं, और आगे भी बतलायेंगे, कि बौद्ध आत्माको नहीं मानते, उसकी जगह वह चित्त, मन और विज्ञानको मानते हैं, जो तीनोंही पर्याय हैं। मन शरीर नहीं है, किन्तु साथ ही "मन कायाके आश्रित है।"[1] इन्द्रियाँ काया (=शरीर)में होती हैं, यह हम जानते हैं, और "यद्यपि इन्द्रियोंके बिना बुद्धि (=मन, ज्ञान)

---

[1] प्र० वा० २।४३

नही होता, साथ ही इन्द्रियाँ भी बुद्धिके विना नहीं होती, इस तरह दोनो (=इन्द्रियाँ और बुद्धि) अन्योन्य=हेतुक (=एक दूसरेपर निर्भर है), और इससे (मन और काया)का अन्योन्य-हेतुक होना (सिद्ध है)"।

(ख) **मन शरीर नहीं**--मन और शरीरका इस तरह एक दूसरेपर आश्रित होना—दोनोमे अविनाभाव सबध होना—हमे इस परिणामपर पहुँचाता है, कि मन शरीरसे सर्वथा भिन्न तत्त्व नही है, वह शरीरका ही एक अश है; अथवा मन और शरीर दोनो उन्ही भौतिक तत्त्वोके विकास है, अत· तत्त्वत उनमे कोई भेद नही—भूतसे ही चैतन्य है, जो चैतन्य है वह भूत है। धर्मकीर्त्ति अन्य बौद्ध दार्शनिकोकी भाँति भूतचैतन्यवाद (भौतिकवाद या जडवाद)का खडन करते हुए कहते हैं—"प्राण=अपान (=श्वास-प्रश्वास), इन्द्रियाँ और बुद्धि (=मन)की उत्पत्ति अपनेसे समानता रखनेवाले (=सजातीय) पूर्वके कारणके विना केवल शरीरसे ही नही होती। यदि इस तरहकी उत्पत्ति (=जन्मग्रहण) होती, तो (प्राण-अपान-इन्द्रिय-बुद्धिवाले शरीरसे उत्पन्न होनेका) नियम न रहता (और जिस किसी भूतसे जीवन=प्राण अपान-इन्द्रिय-बुद्धिवाला शरीर उत्पन्न होता)।"[1]

जीवनवाले वीजसे ही दूसरे जीवनकी उत्पत्ति होती है, यह भी इस वातकी दलील है, कि मन (=चैतना) केवल भूतोकी उपज नही है। कही-कही जीवन-वीजके विना भी जीवन उत्पन्न होता दिखाई देता है, जैसे कि वर्षामे क्षुद्रकीट; इसका उत्तर देते हुए धर्मकीर्त्ति कहते है—

"पृथिवी आदिका ऐसा कोई अग नहीं है, जहाँ स्वेदज आदि जन्तु न पैदा होते हो, इससे मालूम होता है, सव (भूतसे उत्पन्न होती दिखाई देनेवाली वस्तुएँ) वीजात्मक है।"[2]

"यदि अपने सजातीय (जीवनमुक्त कारण)के विना इन्द्रिय आदिकी उत्पत्ति मानी जाय, तो जैसे एक (जगहके भूत जीवनके रूपमे) परिणत

---

[1] प्र० वा० २।३५ [2] वहीं २।३७

हो जाते हैं, उसी तरह सभी (मृत परिणत हो जाने चाहिए), क्योंकि (पहिले जीवन-शून्य होनेसे सभी) एकसे हैं, (लेकिन हर ककड और ढन्नेको सजीव आदमीके रूपमें परिणत होते नहीं देखा जाता)।"[1]

"वत्ती (तेल) आदिकी भाँति (कफ, पित्त आदि) दोपो द्वारा देह विगुण (=मृत) हो जाता है—यह कहना ठीक नहीं, ऐसा होता तो मरनेके वाद भी (कफ, पित्त आदि) दोपोंका शमन हो जाता है (फिर तो दोपोके शमनसे विगुणता हट जानेके कारण मृतकको) फिर जी जाना चाहिए।

"यदि कहो (जलाकर) आगके निवृत्त (=शान्त) हो जानेपर भी काष्ठके विकार (=कोयले या राख)की निवृत्ति (पहिले काष्ठके रूपमें परिणति) नहीं होती, उसी तरह (मृत शरीरकी भी कफ आदिके शान्त होनेपर भी सजीव शरीरके रूपमें) परिणति नहीं होती—यह कहना ठीक नहीं, क्योकि चिकित्साके प्रयोगसे (जव दोपोंको हटाया जाता है, तो शरीर प्रकृतिस्थ हो जाता है किन्तु यह शरीरके सजीव होते ही होते)।

"(दोपोसे होनेवाले विकारोंकी निवृत्ति या अनिवृत्ति सभी जगह एकसी नही है) कोई वस्तु कहीं-कहीं न लौटने देनेवाले (=अनिवर्त्य) विकारकी जनक (=उत्पादक) होती है, जैसे आग काष्ठके वारेमें (अनिवर्त्य विकारकी जनक) है; और कहीं उलटा (=निवर्त्य विकार-जनक) है, जैसे (वही आग) सुवर्णमें। पहिले (काष्ठकी आग)का थोडा भी विकार (=काला आदि पड जाना) अनिवर्त्य (= लौटाया जानेवाला) है। (किन्तु दूसरे सोना-आगमें जो) लौटाया जा सकने-वाला (=प्रत्यानेय) विकार है, वह फिर (पूर्ववत् पिघले) ठोस सोनेकी तरह हो सकता है।

"(जो कुछ) असाध्य कहा जाता है, (वह रोगो और मृत्युके कारण कफ आदि दोपोके) निवारक (औपधो)के दुर्लभ होनेसे अथवा आयुकी

---

[1] प्र० वा० २।३८

क्षयकी वजहसे (कहा जाता है)। यदि (भौतिकवादियोंके मतानुसार) केवल (भौतिक दोष ही मृत्युके कारण हो) तो (ऐसे दोषोका हटाना) असाध्य नही हो सकता।

"(माना जाता है कि साँप काटनेपर जब तक जीवन रहता है, तब तक विष सारे शरीरमे फैलता जाता है, किन्तु शरीरके निर्जीव हो जानेपर विष काटे स्थानपर जमा हो जाता है; इस तरह तो यदि भूत ही चेतना होती, तो (शरीरके) मर जानेपर विष आदिके (शरीरके अन्य स्थानोसे हटकर एक स्थानपर) जमा होनेसे (शरीरके बाकी स्थानो) अथवा कटे (स्थान)के काट डालनेसे (बाकी शरीरमें निर्जीवतारूपी) विकारके हेतु (=विष)के हट जानेसे वह (शरीर) क्यो नही साँस लेने लगता ? (इससे पता लगता है कि चेतना भूत ही नही है, बल्कि उससे भिन्न वस्तु है; यद्यपि दोनों एक दूसरेके आश्रित होनेसे अलग-अलग नही रह सकते)।

"(भूतसे चेतनाकी उत्पत्ति माननेपर भूत उपादान और चेतना उपादेय हुई फिर) उपादान (=शरीर)के विकारके बिना उपादेय (=चेतना)मे विकार नही किया जा सकता, जैसे कि मिट्टीमें विकार बिना (मिट्टीके बने) कसोरे आदिमें (विकार नही किया जा सकता)। किसी वस्तुके विकार-युक्त हुए बिना जो पदार्थ विकारवान् होता है, वह वस्तु उस (पदार्थ)का उपादान नही (हो सकती); जैसे कि (एकके विकारके बिना दूसरी विकार-युक्त होनेवाली) गाय और नीलगायमें (एक दूसरेका उपादान नही हो सकती); इसी तरह मन और शरीरकी भी (बात है, दोनोमेसे एकके विकार-युक्त हुए बिना भी दूसरेमें विकार देखा जाता है)।"[1]

(ग) मनका स्वरूप—"स्वभावसे मन प्रभास्वर (=निर्विकार) है, (उसमे पाए जानेवाले) मल आगन्तुक (आकाशमे अन्धकार, कुहरा आदिकी भाँति अपनेसे भिन्न) हैं।"[2]

---

[1] प्र० वा० २।५४-६२ [2] वहीं २।२०८

४—दूसरे दार्शनिकोंका खंडन

धर्मकीर्त्तिने अपने ग्रथ प्रमाण-वार्त्तिकमे अपने दार्शनिक सिद्धान्तोका समर्थन और प्रतिपादन ही नही किया है, वल्कि उन्होने अपने समय तककी हिन्दू दार्शनिक प्रगतिकी आलोचना भी की है। जिन दार्शनिकोके ग्रथोको सामने रखकर उन्होने यह आलोचना की है, उनमे उद्योतकर और कुमारिल जैसे प्रमुख ब्राह्मण दार्शनिक भी है। हमने पुनरुक्ति और ग्रथ-विस्तारके डरसे उनके वारेमे अलग नही लिखा, किन्तु यहाँ धर्मकीर्त्तिकी आलोचनासे उनके विचारोको हम जान सकते है।

(१) नित्यवादियोका सामान्यरूपसे खंडन—पहिले हम उन सिद्धान्तोको ले रहे है, जिन्हे एकसे अधिक दार्शनिक सम्प्रदाय मानते है।

(क) नित्यवादका खंडन—अनित्यवाद (=क्षणिकवाद)का घोर पक्षपाती होनेसे वौद्धदर्शन नित्यवादका जवर्दस्त विरोवी है। भारतके वाकी सारे ही दार्शनिक किसी-न-किसी रूपमे नित्यवादको मानते है, जैन और मीमासक जैसे आत्मवादी ही नही चार्वाक जैसे भौतिकवादी भी भूतके सूक्ष्मतम अवयवको क्षणिक (=अनित्य)कहनेके लिए तैयार नही थे जैसे कि पिछली सदी तकके यूरोपके यान्त्रिक भौतिकवादी विश्वकी मूल ईंटो—परमाणुओ—को क्षणिक कहनेके लिए तैयार न थे।

दिग्नाग कहते है[1]—"कारण (स्वय) विकारको प्राप्त होकर ही दूसरी (चीज)का कारण हो सकता है।" धर्मकीर्त्तिने कहा—"जिसके होनेके वाद जिस (वस्तु)का जन्म होता है, अथवा (जिसके) विकारयुक्त होनेपर (दूसरी वस्तु)मे विकार होता है, उसे उस (पीछेवाली वस्तु)का कारण कहते है।"[2]

इस प्रकार कारण वही हो सकता है, जिसमें विकार हो सकता है। "नित्य (वस्तु)मे यह (वात) नही हो सकती, अत- ईश्वर आदि (जो नित्य

---

[1] "कारण विकृतिं गच्छज्जायतेऽन्यस्य कारणम्"।

[2] प्र० वा० २।१८१-८२

पदार्थ) है, उनसे (कोई वस्तु) उत्पन्न नही हो सकती।"[1]

"जिसे अनित्य नही कहा जा सकता, वह किसी (चीज)का हेतु नही हो सकता। (नित्यवादी) विद्वान् उसी (स्वरूप)को नित्य कहते है जो स्वभाव (=स्वरूप) विनष्ट नहीं होता।"[2]

यह भी वतला चुके है कि धर्मकीर्त्ति परार्थ-सत् उसी वस्तुको मानते है, जो कि अर्थवाली (=सार्थक) क्रिया (करने)में समर्थ हो। नित्यमें विकारका सर्वथा अभाव होनेसे क्रिया हो ही नही सकती। आत्मा, ईश्वर, इन्द्रिय आदिसे अगोचर है, साथ ही वह नित्य होनेके कारण निष्क्रिय भी है; इतनेपर भी उनके अस्तित्वकी घोपणा करना यह साहस मात्र है।

(ख) आत्मवादका खंडन—चार्वाक और वौद्ध-दर्शनको छोड वाकी सारे भारतीय दर्शन आत्माको एक नित्य चेतन पदार्थ मानते है। वौद्ध अनात्मवादी है, अर्थात् आत्माको नही मानते। आत्माको न माननेपर भी क्षण-क्षण परिवर्तनशील चेतना-प्रवाह (=विज्ञान-सतति) एकसे दूसरे शरीरसे जुडता (=प्रतिसंधि ग्रहण करता) रहता है, इसे हम पहिले वतला चुके है। चेतना (=मन या विज्ञान) सदा कायाश्रित रहता है। जब कि एक शरीरका दूसरे शरीरसे एकदम सन्निकटका सवध नही है, मरनेवाला क शरीर भूलोकपर है और उसके वादका सजीव वननेवाला ख शरीर मगललोकमें, ऐसी अवस्थामे क शरीरको छोड़ ख शरीर तक पहुँचनेमे वीचकी एक अवस्था होगी, जिसमे विज्ञानको कायासे विलकुल स्वतत्र मानना पडेगा, फिर "मन कायाश्रित है"—कहना गलत होगा। इसक उत्तर वौद्ध कह सकते है, कि हम मनको एक नही वल्कि प्रवाह मानते है, प्रवाहका अर्थ निरन्तर—अ-विच्छिन्न चली जाती एक वस्तु नही, वल्कि, हर क्षण अपने रूपसे विच्छिन्न—सर्वथा नष्ट—होती, तथा उसके वाद उसी तरहकी किन्तु विलकुल नई चीजका उत्पन्न होना, और इस.....नष्ट-उत्पत्ति-नष्ट-उत्पत्ति.....से एक विच्छिन्न प्रवाहका

---

[1] वहीं २।१८३ [2] वहीं २।२०४

जारी रहना। चेतन-प्रवाह इसी तरहका विच्छिन्न प्रवाह है, वह जीवन-रेखा मालूम होता है, किन्तु है जीवन-विन्दुओकी पाँती। फिर प्रवाहको विच्छिन्न मान लेनेपर "मन कायाश्रित"का मतलब मनके हर एक "विन्दु"को विना कायाके नही रहना चाहिए। क शरीर—जो कि स्वय क्षण-क्षण परिवर्तन-शील शरीर-निर्मापक मूल विन्दुओ (=कणो)का विच्छिन्न प्रवाह है—का अन्तिम चित्त-विन्दु नष्ट होता है, उसका उत्तराधिकारी ख शरीरके साथ होता है। क शरीर(-प्रवाह)के अन्तिम और ख शरीर(-प्रवाह)के आदिम चित्त-विन्दुओ (क-चित्त, ख-चित्त)के वीच यदि किसी ग चित्त-विन्दुको माने तव न आक्षेप किया जा सकता है, कि ग चित्त-विन्दु कायाके विना है। इस तरह स्थिर (=नित्य या चिरस्थायी)नही, वल्कि विजली-की चमकसे भी वहुत तेज गतिसे "आँख मिचौनी" करनेवाले चित्त-प्रवाहके (अनात्म तत्त्व)को मानते हुए भी वह एकसे अधिक शरीरो (=शरीर-प्रवाहो)में उसका जाना सिद्ध करते है।

(a) नित्य आत्मा नहीं—आत्माको नित्य माननेवाले वैसा मानना सवसे ज़रूरी इस वातके लिए समझते है, कि उसके विना वध—जन्म-मरणमें पडकर दु ख भोगना, और मोक्ष—दु खोसे छूटकर परम "सुखी" हो विचरण करना—दोनो सभव नही। इसपर धर्मकीर्त्ति कहते है—

"दु खकी उत्पत्तिमे कारण (=कर्म) वंध है, (किन्तु) जो नित्य है (वह निष्क्रिय है इसलिए) वह ऐसा (कारण) कैसे हो सकता है ? दु खकी उत्पत्ति न होनेमे कारण (कर्मसे उत्पन्न वधसे) मोक्ष (मुक्त होना) है, जो नित्य है, वह ऐसा (कारण) कैसे हो सकता है ? (वस्तुत) जिसे अ-नित्य (=क्षणिक) नही कहा जा सकता, वह किसी (चीज)का कारण नही हो सकता। नित्य उस स्वरूपको कहते है, जो कि नष्ट नहीं होता। इस लज्जाजनक दृष्टि (=नित्यताके सिद्धान्त)को छोडकर उसे (=आत्माको) (अत) अनित्य कहो।"[1]

---

[1] प्र० वा० २।२०२-२०५

(b) **नित्य आत्माका विचार (=सत्काय दृष्टि) सारी बुराइ-योंकी जड़**—"मै सुखी होऊँ या दु खी नही होऊँ—यह तृष्णा करते (पुरुप)का जो 'मै' ऐसा ख्याल (=बुद्धि) होती है, वही सहज आत्मवाद (=सत्त्व-दर्शन) है। 'मैं' ऐसी धारणाके विना कोई आत्मामें स्नेह नही कर सकता, और आत्मामें (इस तरहके) स्नेहके विना सुखकी कामना करनेवाला वन (कोई गर्भस्थानकी ओर) दौड नही सकता है।"[1]

"जब तक आत्मा-संबधी प्रेम नही छूटता, तब तक (पुरुष अपनेको) दु खी मानता रहेगा और स्वस्थ (=चिन्ता-रहित) नही हो सकेगा। यद्यपि कोई (अपनेको) मुक्त करनेवाला नही है, तो भी ('मै, मेरा', जैसे) झूठे ख्याल (=आरोप)को हटानेके लिए यत्न करना पड़ता है।"[2]

"यह (क्षणिक मन-, शरीर-प्रवाहसे) भिन्न आत्माका ख्याल है, जिससे उससे उलटे स्वभाव (=वस्तुकी स्थिरता आदि)मे राग (=स्नेह)उत्पन्न होता है।"[3]

"आत्माका ख्याल (केवल) मोह, और वही सारी बुराइयोकी जड़ (=दोषोका मूल) है।"[4]

"(यह) मोह सत्यकाय दृष्टि(=नित्य आत्माकी धारणा) है, मोह-मूलक ही सारे मल (=चित्त-विकार) है।"[5]

धर्मके माननेवालोके लिए भी आत्मवाद (=सत्काय-दृष्टि) बुरी चीज है, इसे बतलाते हुए कहा है—

"जो (नित्य) आत्माको मानता है, उसको "मै" इस तरहका स्नेह (=राग) सदा बना रहता है, स्नेहसे सुखकी तृष्णा करता है, और तृष्णा दोषोको ढाँक देती है। (दोषोंके ढँक जानेसे वहाँ वह गुणोको देखता है, और) गुणदर्शी तृष्णा करते हुए 'मेरा (सुख)' ऐसी (चाह करते) उस (की प्राप्ति)के लिए साधनो (=पुनर्जन्म आदि)को ग्रहण करता है।

---

[1] प्र० वा० २।२०१-२ [2] वहीं २।१९१-९२

[3] प्र० वा० १।१९५ [4] वहीं २।१९६ [5] वहीं २।२१३

इस सत्काय-दृष्टिसे जब तक आत्माकी धारणा है, तब तक वह संसार (=भवसागर)मे है। आत्मा (=मेरा) जब है, तभी पराए(=मन)-का ख्याल होता है। मेरा-परायाका भेद जब (पुरुष)मे आता है, तो लेना, छोडना (=राग-द्वेष) होता है, इन्ही (लेने छोडने)से बँधे सारे दोष (=ईर्ष्या आदि) पैदा होते है। जो नियमसे आत्मामे स्नेह करता है, वह आत्मीय (=सुख साधनो)से रागरहित नही हो सकता।"[1]

"आत्माकी धारणा सर्वथा अपने (व्यक्तित्वमें) स्नेहको दृढ करती है। आत्मीयोके प्रति स्नेहका बीज (जब मौजूद है, तो वह दोषोको) वैसा ही कायम रखेगा।"[2]

"(वस्तुत आत्मा नही नैरात्म्य ही है,) किन्तु नैरात्म्यमे जब (गलतीसे) आत्म-स्नेह हो गया, तो उससे (=आत्मस्नेहसे कि जिसे वह आत्मीय सुख आदिकी चीज समझता है, उसमें) जितना भी लाभ हो, उसके अनुसार क्रिया-परायण होता है। (—बडा लाभ न होनेपर छोटे लाभको भी हासिल करनेसे बाज नही आता,-जैसे) मत्तकामिनी (=मत्त-गजगामिनी सुन्दरी)के न मिलनेपर (कामुक पुरुष) पशुमें भी कामतृप्ति करता है।"[3]

इस प्रकार नित्य आत्मा युक्तिसे सिद्ध नही हो सकता है, और धर्म, परलोक, मुक्तिमे भी उसके माननेसे बाधा ही होती है।

(ग) ईश्वर-खंडन—ईश्वरवादी ईश्वरको नित्य और जगत्का कर्त्ता मानते है। धर्मकीर्त्ति ईश्वरके अस्तित्वका खडन करते हुए कहते हैं—

"जैसे (स्वरूपसे) वह (ईश्वर जगत्की सृष्टिके वक्त) कारण वस्तु है, वैसे ही (स्वभावसे सृष्टि करनेसे पहिले) वह अ-कारण भी था। (आखिर स्वरूप एकरस होनेसे दोनो अवस्थामे उसमे भेद नही हो सकता फिर) जब वह कारण (माना गया, उसी वक्त) किस (वजह)से (वैसा) माना गया (और) अ-कारण नही माना गया?

---

[1] प्र० वा० २।२१७-२२०　[2] वहीं २।२३५-२३६　[3] वहीं २।२३३

"(कारक और अकारक दोनो अवस्थाओमे एकरस रहनेवाला ईश्वर जब कारण कहा जाता है, तो प्रश्न होता है—) राम (के शरीर)मे शस्त्रके लगनेसे घाव और औषधके लगनेसे घाव-भरना (देखा जाता है), शस्त्र और औषध क्षणिक होनेसे क्रिया कर सकते है, इसलिए उनके लिए यह सम्भव है; किन्तु यदि (नित्य अतएव निष्क्रिय ईश्वरको कारक मानते हो, तो क्रिया आदि) सबध-रहित ठूंठमे ही क्यो न विश्वकी कारणता मान लेते ?

"(यदि कहो कि ईश्वरके सृष्टिके कारक होनेकी अवस्थासे अकारक अवस्थामे विशेषता होती है, तो प्रश्न होगा—ऐसा होनेमे उसके स्वरूपमे परिवर्तन हो जायगा, क्योंकि) स्वरूपमे परिवर्तन हुए विना (वह कारक नही हो सकता, और नित्य होनेसे) वह कोई व्यापार (=क्रिया) नही कर सकता। और (साथ ही) जो नित्य है, वह तो अलग नही (सदा वहाँ मौजूद) है, (फिर उसकी सृष्टि-रचना-सबधी) सामर्थ्यके बारेमे यह समझना मुश्किल है (कि सदा अपनी उसी सामर्थ्यके रहते भी वह उसे एक समय ही प्रदर्शित कर सकता है, दूसरे समय नही)।

"जिन (कारणो)के होनेपर ही जो (कार्य) होता है, उन (कारणो) से अन्यको उस (कार्य)का कारण माननेपर (कारण ढूँढते वक्त ईश्वर तक ही जाकर थम जाना नही पडेगा, वल्कि) सर्वत्र कारणोका खातमा ही नही होगा (ईश्वरके आगे भी और तथा उससे आगे और....कारण ढूँढने पडेगे।)

"(कारण वही होता है, जिसके स्वरूपमे कार्यके उत्पादनके समय परिवर्तन होता है) भूमि आदि अकुर पैदा करनेमें कारण अपने स्वरूप-परिवर्तन करते हुए होते है; क्योकि उन (=भूमि आदि)के सस्कारसे अकुरमें विशेषता देखते है। (ईश्वर अपने स्वरूपमे परिवर्तन किए विना कारण नही बन सकता, और स्वरूप-परिवर्तन करनेपर वह नित्य नही रह सकता)।"[1]

---

[1] प्र० वा० २।२१-२५

ईश्वरवादी ईश्वर सिद्ध करनेके लिए इसे एक जवर्दस्त युक्ति समझते हैं—सन्निवेश (=खास आकार-प्रकार)की वस्तुको देखनेपर कर्त्ताका अनुमान होता है, जैसे सन्निवेशवाले घडेको देखकर उसके कर्त्ता कुम्हारका अनुमान होता है। इसका उत्तर देते हुए धर्मकीर्त्ति कहते हैं—

"किसी वस्तु (=घट)के वारेमे (पुरुषकी उपस्थितिमें सन्निवेशका होना यदि) प्रसिद्ध है, तो उसके एकसे शब्द (=सन्निवेश पुरुषपूर्वक होता है)की समानतासे (कुम्हारकी तरह ईश्वरका) अनुमान करना ठीक नही, जैसे कि (एक जगह कही) पीले रगवाले धुएँको देखकर आपने आगका अनुमान किया, और फिर सभी जगह पीले रगको देखकर आगका अनुमान करते चले। यदि ऐसा न माने तव तो चूँकि कुम्हारने मिट्टीके किसी घडे आदिको वनाया, इसलिए दीमकोके 'टीले'को कुम्हारकी ही कृति सिद्ध करना होगा।"[1]

पहिले सामग्रीकारणवादके वारेमे कहते वक्त धर्मकीर्त्ति वतला चुके है, कि कोई एक वस्तु कार्यको नही उत्पादन करती, अनेक वस्तु मिलकर अर्थात् कारण-सामग्री कार्य करनेमे समर्थ होती है।

(२) न्याय-वैशेषिक खंडन—वैशेपिक और न्याय-दर्शनमे जगत्को वाहरसे परिवर्तनशील मानते हुए, यूनानी दार्शनिको—खासकर अरस्तूके दर्शन—का अनुसरण करते हुए, वाहरी परिवर्तनके भीतर नित्य एक रस तत्वो—चेतन और जड मूल तत्त्वोको सिद्ध करनेकी कोशिश की गई है। वौद्धदर्शन अपवादरहित क्षणिकताके अटल सर्वव्यापी नियमको स्वीकार करते हुए किसी स्थिरता-साधक सिद्धान्तको माननेके लिए तैयार नही था; इसीलिए हम प्रमाणवार्त्तिकमे धर्मकीर्त्तिको मुख्यत ऐसे सिद्धान्तोका जवर्दस्त खडन करते देखते है। वैशेपिकने स्थिरवादी सिद्धान्तके अनुसार अपने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेप, समवाय—छै पदार्थोको स्वीकृत किया है, इनमे कर्म और विशेष ही है जिनके माननेमे वौद्धोको आनाकानी

---

[1] वही २।१२, १३

नही हो सकती थी, क्योकि कर्म या क्रिया क्षणिकवादका ही साकार—परमार्थसत्—स्वरूप है और हेतु-सामग्री तथा अपोह (जिसके बारेमें आगे शब्दप्रमाणपर बहस करते वक्त लिखेंगे)के सिद्धान्तोको माननेवाले होनेसे विशेषको भी वह स्वीकार कर लेते थे। बाकी द्रव्य, गुण, सामान्य, समवायको वह कल्पनापर निर्भर व्यवहारसत्के तौरपर ही मान सकते थे।

(क) द्रव्य गुण आदिका खंडन—बौद्धोकी परमार्थसत् और व्यहारसत्की परिभाषाके बारेमे पहिले कहा जा चुका है, उसमे परमार्थ सत्की कसौटी उन्होने—अर्थक्रिया—को रखा है। विश्वमे जो कुछ वस्तु सत् है, वह अर्थ-क्रियासे व्याप्त है जो अर्थक्रियाकारी नही है, वह वस्तु सत् (=परमार्थसत्) नही हो सकती। विश्व और उसकी "वस्तुओ"के बारेमें ऐसा विचार रखते हुए वह वस्तुत· "वस्तु"को ही नही मान सकते थे; क्योकि "वस्तु"से साधारण जनके मनमें स्थिर पदार्थका ख्याल आता है; इसीलिए बौद्ध दार्शनिकोने वस्तुके स्थानमे "धर्म" या "भाव" शब्दका अधिक प्रयोग करना चाहा है। "धर्म"को मजहब या मजहबी स्थिर-सत्यके अर्थमे नही, बल्कि विच्छिन्न प्रवाहके उन बिन्दुओके अर्थमें लिया है, जो क्षण-क्षण नष्ट और उत्पन्न होते वस्तुके आकारमें हमें दिखलाई पडते है। "भाव" (=होना)को वह इसलिए पसन्द करते है, क्योकि वस्तु-स्थिति हमे "है"का नही बल्कि "होने"का पता देती है—विश्व स्थिर तत्त्वोका समूह नही है कि हम "है"का प्रयोग करे, बल्कि वह उन घटनाओका समूह है जो प्रतिक्षण घटित हो रही है। वैशेषिककी द्रव्य, गुणकी कल्पना भावके पीछे छिपे विच्छिन्न-प्रवाहवाले विचारके विरुद्ध है।

वैशेषिकका कहना है—द्रव्य और गुण दो चीजें (पदार्थ) है, जिनमे गुण वह है, जो सदा किसीके आधारपर रहता है, गधको हमेशा हम पृथिवी (तत्त्व)के आधारपर देखते है, रसको जल (तत्त्व)के आधारपर। उसी तरह जहाँ-जहाँ हम द्रव्य देखते है, वहाँ-वहाँ उसके आधेय—गुण—भी पाए जाते है, जहाँ-जहाँ पृथ्वी (तत्त्व) मिलता है, वहाँ-वहाँ उसका आधेय गुण गध भी मिलता है। इस तरह गुणके लिए कोई आधार होना चाहिए, यह

ख्याल हमें द्रव्यकी सत्ता स्वीकार करनेके लिए मजबूर करता है, और द्रव्य सदा अपने आधेय गुणके साथ रहता है, यह ख्याल हमें गुणकी सत्ताको स्वीकार करनेके लिए मजबूर करता है। बौद्धोका कहना है—प्रकृति इन द्रव्य गुणके भेदको नहीं जानती, यह तो हम समझनेकी आसानीके लिए अलग करके कहते हैं, जिस तरह प्रकृति दस आमोमेंसे एकको पहिला, एकको दूसरा इस तरह नवर देकर हमारे सामने उपस्थित नही करती, हर एक आम एक दूसरेसे भिन्न है—बस वह इतना ही जानती है। "भाव प्रतिक्षण विनष्ट हो रहे है, भावोके प्रवाहकी उस तरहकी (प्रतिक्षण विनाशसे युक्त) उत्पत्तिसे (सिद्ध होता है, कि यह उत्पत्ति सदा) स-हेतुक (=कारण या पूर्ववर्त्ती भावके होनेपर) होती है, इससे आश्रय (=आधार है, सिर्फ इसी अर्थमें लेना चाहिए कि हर एक भावकी उत्पत्तिके पहिले भाव-प्रवाह मौजूद रहता) है, इससे भिन्न अर्थमे (आश्रय, आधार या द्रव्यका मानना) अ-युक्त है।"[1]

जैसे जलका आधार घडेको मानते हैं, उसी तरह गधका आधार पृथिवी (-तत्व) है, यह कहना गलत है "जल आदिके लिए आधार (की जरूरत) हो सकती है, क्योकि (गतिशील जलके) गमनका (घडेसे) प्रतिबंध होता है। गुण, सामान्य (=जाति) और कर्म (तो तुम्हारे मतमे गतिरहित हो द्रव्यके भीतर रहते हैं, फिर ऐसे) गतिहीनोको आधार लेकर क्या करना है?"[2]

इस तरह आधारकी कल्पना गलत साबित होनेपर आधेय गुण आदिका पृथक पदार्थ होना भी गलत ख्याल है। गुण सदा द्रव्यमें रहता है, अर्थात् दोनोके बीच समवाय (=नित्य) सबध है, तथा द्रव्य गुणका समवायी (=नित्य सबध रखनेवाला) कारण है, यह समवाय और समवायी-कारणका ख्याल भी पूर्व-खडित द्रव्य-गुणकी कल्पनापर आधारित होनेसे गलत है।

---

[1] प्र० वा० २।६७ [2] प्र० वा० २।६८

(ख) सामान्यका खंडन—गाये करोडो है, जब हम उनकी भूत, वर्तमान, भविष्यकी व्यक्तियोपर विचार करते है, तो वह अनगिनत मालूम होती है। इन अनगिनत गाय-व्यक्तियोमे एक बात हम सदा पाते है, वह है गायपन (=गोत्व), जो गाय व्यक्तियोके मरते रहनेपर भी हर नई उत्पन्न गायमें पाया जाता है। अनेक व्यक्तियोमें एकसा पाया जानेवाला यह पदार्थ सामान्य या जाति है, जो नित्य—सर्वकालीन—है। यह है सामान्यको सिद्ध करनेमे वैशेषिककी युक्ति, जिसके बारेमे पहिले लिख चुकनेपर भी प्रकरणके समझनेमे आसानीके लिए हमे यहाँ फिर कहना पडा है।

अनुमानके प्रकरणमें धर्मकीर्त्ति कह चुके है, कि सामान्य अनुमानका विषय है, साथ ही सामान्य वस्तु-सत् नही बल्कि कल्पनापर निर्भर है। इस तरह जहाँ तक व्यवहारका सबध है, उसके माननेसे वह इन्कार नही करते इसीलिए वह कहते है—

"बाहरी अर्थ (=पदार्थ)की अपेक्षाके बिना जैसे (अर्थ, पदार्थमे) उसे वाचक मान वक्ता जिस शब्दको नियत करते है, वह शब्द वैसा (ही) वाचक होता है।

"(एक स्त्रीके लिए भी सस्कृतमे बहुवचन) दारा, (छ. नगरोके बहुवचनवाले अर्थके लिए सस्कृतमें एक वचन) षण्णगरी (छ नगरी) कहा जाता है, जैसे (शब्द-रूपो)मे एक वचन और बहुवचनकी व्यवस्थाका क्या कारण है? अथवा (सामान्य अनेक व्यक्तियोमे एक होता है, आकाश तो ख सिर्फ एक है फिर) खका स्वभाव खपन (=आकाशपन) यह सामान्य क्यो माना जाता है?"[1]

इसका अर्थ यही है, शब्दोके प्रयोगमे वस्तुकी पर्वाह नही करके वक्ता बहुत जगह स्वतत्रता दिखलाते है, गायपन आदि इसी तरहकी उनकी "स्वतत्र" कल्पना है, जिसके ऊपर वस्तुस्थितिका फैसला करना गलत होगा।

"(सर्वथा एक दूसरेसे) भिन्नता रखनेवाले भावो (=वस्तुओ)को

---

[1] प्र० वा० १।६८, ६९

लेकर जो एक अर्थ (=गायपन) जतलानेवाली (बुद्धि= ान पैदा होती है, जिस)के द्वारा उन (भावो)का (वास्तविक) रूप ढँक (=मवृत हो) जाता है, (इसलिए) ऐसे ज्ञानको संवृति (=वास्तविकताको ढाँकनेवाली) कहते है।

"ऐसी संवृतिसे (भावो=गायो)का नानापन ढँक गया है (इसीलिए) भाव (=गाये आपसमे) स्वय भिन्नता रखते हुए (भी) किसी (कल्पित) रूपसे अभिन्नता रखनेवालेसे जान पड़ते है।

"उसी (सवृति या कल्पनावाली बुद्धि)के अभिप्रायको लेकर सामान्यको सत् कहा जाता है, क्योकि परमार्थमे वह अ-सत् (और) उस (सवृति बुद्धि)के द्वारा कल्पित है।"[1]

गायपन एक वस्तु सत् है, जो सभी गाय-व्यक्तियोमे है, यह ख्याल गलत है, क्योकि---

"व्यक्तियाँ (भिन्न-भिन्न गाये एक दूसरेमे) अनुगत नही है, (और) न उन (भिन्न गाय व्यक्तियो) मे (कोई) अनुगत होनेवाला (पदार्थ) दीख पड़ता है (,जो दीखती है, वह भिन्न-भिन्न गाय-व्यक्तियाँ है)। ज्ञानसे अभिन्न (यह सामान्य) कैसे (एकसे) दूसरे पदार्थको प्राप्त हो सकता है?

"इसलिए (अनेक) पदार्थोमे एकरूपता (=सामान्य)का ग्रहण झूठी कल्पना है, इस (झूठी कल्पना)का मूल (व्यक्तियोका) पारस्परिक भेद है, जिसके लिए (गोत्व आदि) सज्ञा (=शब्दका प्रयोग होता) है।"[2]

"यदि (सज्ञाओ शब्दो द्वारा पदार्थोका) भेद (मालूम होता है, तो इतना ही तो शब्दोका प्रयोजन है, फिर) वहाँ सामान्य या किसी दूसरी (चीजकी कल्पनासे) तुम्हे क्या (लेना) है?"[3]

वस्तुत गायपन आदि सामान्यवाची शब्द विद्वानोने व्यवहारके सुभीतेके लिए बनाए है।

---

[1] प्र० वा० १।७०-७२ [2] प्र० वा० १।७३-७४ [3] वहीं १।८८

"एक (तरहके) कार्य (करनेवाले) भावो (='वस्तुओ')में उनके कार्योंके जतलानेके लिए भेद करनेवाली सज्ञा (की ज़रूरत होती है, जैसे दूध तथा श्रम देना आदि क्रियाओंको करनवाली गायोमे उनके कार्योंके जत-लानके लिए भेद करनेवाली सज्ञाकी; किन्तु गाय-व्यक्तियोके अनगिनत होनेसे हर व्यक्तिकी अलग-अलग सज्ञा रखनेपर नाम) वहुत वढ जाता, (वह) हो भी नही सकता था, और (प्रयास) फजूल भी होता, इसलिए (व्यवहार कुशल) वृद्धोने उस (गायवाले) कार्यसे फर्क करनेके विचारसे एक शब्द (=गाय नाम) प्रयुक्त किया ।"[1]

फिर प्रश्न होता है, सामान्य (=गायपन) जिसे नित्य कहते हो, वह एक-देशी है या सर्वव्यापी ? यदि कहो वह एकदेशी अर्थात् अपनेसे सवध रखनेवाली गाय-व्यक्तियोमें ही रहता है, तो—

"(एक गायमे स्थित सामान्य उस व्यक्तिके मरने तथा दूसरी गायके उत्पन्न होनेपर एकसे दूसरेमे) न जाता है, और न उस (व्यक्तिकी उत्पत्ति वाले देश)मे (पहिलेसे) था (, क्योकि वह सिर्फ व्यक्तियोमे ही रहता है) और (व्यक्तिकी उत्पत्तिके) पीछे (तो जरूर) है, (क्योकि सामान्यके विना व्यक्ति हो नही सकती); यदि (सामान्यको) अशवाला (मानते हो, जिसमे कि उसका एक अश=छोर पहिली व्यक्तिसे और दूसरा पीछे उत्पन्न होनेवाली व्यक्तिसे सवद्ध हो)। और (अशरहित माननेपर यह नही कह सकते कि वह) पहिलेके (उत्पन्न होकर नष्ट होते) आधारको छोडता है (क्योकि ऐसा माननेपर देश-कालके अन्तरको नित्य सामान्य जव पार करेगा, उस वक्त उसे व्यक्तिसे अलग भी मानना पडेगा, इस प्रकार वेचारे सामान्यवादीके लिए) मुसीवतोका अन्त नही।

"दूसरी जगह वर्त्तमान (सामान्य)का अपने स्थानसे विना हिले उस (पहिले स्थान)से दूसरे स्थानमे जन्मनेवाले (पिंड)मे मौजूद होना युक्ति युक्त वात नही है।

---

[1] प्र० वा० १।१३९-१४०

"जिस (देश)मे वह भाव (=खास गाय) वर्तमान है, उस (देश=स्थान)से (सामान्य गायपन) सबद्ध भी नहीं होता (क्योकि तुम मानते हो कि सामान्य देशमें नहीं व्यक्तिमे रहता है), और (फिर कहते हो, देशमे रहनेपर भी उस) देशवाले (पदार्थ—गाय-व्यक्ति)मे व्याप्त होता है, यह तो कोई भारी चमत्कार सा है ! !

"यदि सामान्यको (एक देशी नहीं) सर्वव्यापी (सर्वज्ञ) मानते हो, तो एक जगह एक गाय-व्यक्ति द्वारा व्यक्त कर दिए जानेपर उमे सर्वत्र दिखाई देना चाहिए, (क्योकि सर्वव्यापी सामान्यमे) भेद न होने (=एक होने)से व्यक्तिकी अपेक्षा नही ।

"(और ऊपरकी बातसे यह भी सिद्ध होता है, कि गायपन सामान्य सर्वत्र है । फिर वह दिखलाई देता क्यो नही, यह पूछनेपर आप कहते है—क्योकि उसके लिए व्यजक (=प्रकट करनेवाली) व्यक्ति—गाय—की जरूरत है । इसका अर्थ हुआ—)"(पहिले)व्यजकके ज्ञान हुए विना व्यग्य (=सामान्य) ठीकसे नही प्रतीत होता। तव फिर सामान्य (=गायपन) और सामान्यवान् (=गायपनवाली गाय-व्यक्ति)के सबधमें उलटा क्यो मानते हो ।—अर्थात् गायपन-सामान्य गाय-व्यक्तिकी उत्पत्तिमे पहिले भी मौजूद था ?"[1]

अतएव सामान्य है ही नही—

"क्योकि (व्यक्तिसे भिन्न) केवल जातिका दर्शन नही होता, और (गाय-)व्यक्तिके ग्रहणके वक्त भी उसके (नामवाची) शब्दरूप ('गाय') से भिन्न (कुछ) नहीं दिखाई देता ।"[2]

"इसलिए सामान्य अ-रूप (=अ-वस्तु) है, (और वह) रूपो (=गाय-व्यक्तियो)के आधारपर नहीं कल्पित किया गया है; वल्कि (वह व्यक्तियोकी क्रिया-सवधी) उन-उन विशेपताओके जतलानके लिए शब्दो द्वारा प्रकाशित किया जाता है ।

---

[1] प्र० वा० ३।१५४-५८ [2] प्र० वा० ३।४६

"ऐसे (सामान्य)मे वास्तविकता (=रूप)का अवभास अथवा सामान्यके रूपमे अर्थ (=पदार्थ गाय-व्यक्ति)का ग्रहण भ्रान्ति (मात्र) है, (और वह भ्रान्ति) चिरकालसे (वैसे प्रयोगको) देखते रहनेके अभ्याससे पैदा हुई है।

"और पदार्थो (=विशेषो या व्यक्तियो)का यह (अपनेसे भिन्न व्यक्ति)से विलगाव रूपी जो समानता (=सामान्य) है, और जिस (सामान्य)के विषयमें ये (शब्दार्थ-सबधी सकेत रखनेवाले) शब्द हैं, उसका कोई भी स्व-रूप (=वास्तविक रूप) नही है (क्योकि वे शब्द-व्यवहारके सुभीतेके लिए कल्पित किए गये है)।"[१]

(ग) अवयवीका खंडन—हम बतला आए है, कि कैसे अक्षपाद अवयवो (=अगो)के भीतर किंतु उनसे अलग एक स्वतत्र पदार्थ—**अवयवी** (=अगी)—को मानते है। धर्मकीर्त्ति सामान्यकी भाँति अवयवोका व्यवहार (=सवृति)सत् माननेके लिए तैयार है, किंतु अवयवोसे परे अवयवी एक परमार्थ सत हैं, इसे वह नही स्वीकार करते। "बुद्धि (=ज्ञान) जिस आकारकी होती है, वही उस (=बुद्धि)का ग्राह्य कहा जाता है।"[२] हम बुद्धि (=ज्ञान)से अवयवोके स्वरूपको ही देखते है, उसमे हमें अवयवीका पता नही लगता, भिन्न-भिन्न अवयवोके प्रत्यक्ष ज्ञानोको एकत्रित कर कल्पनाके सहारे हम अवयवीकी मानसिक सृष्टि करते है, जो कि कल्पित छोड वास्तविक वस्तु नही हो सकता। यदि कहो कि अवयवीका भी ग्रहण होता है तो सवाल होगा—

"एक ही बार अपने अवयवोंके साथ कैसे अवयवीका ग्रहण हो सकता है? गलेकी कमरी, (सींग) आदि (अवयवो)के न देखनेपर गाय (=अवयवी) नही देखी जा सकती।"[३]

जिस तरह वाक्य पढते वक्त पहिलेसे एक-एक अक्षर पढ़नेके साथ वाक्यका अर्थ हमे नही मालूम होता जाता, बल्कि एक-एक अक्षर हमारे

---

[१] प्र० वा० २।३१, ३२ [२] प्र० वा० ३।२२४ [३] प्र० वा० ३।२२५

सामनेसे गुजरता सकेतानुसार खास छाप हमारे मस्तिष्कपर छोडता जाता है, इन्ही छापोको मिलाकर मन कल्पना द्वारा सारे वाक्यका अर्थ तैयार करता है। उसी तरह हम गायकी सीग, गलकम्बल, पूँछको वारी-वारीमे देखते जो छाप छोडते है, उनके अनुसार गाय-अवयवीकी कल्पना करते है, किंतु जिस तरह सामान्य व्यक्तिसे भिन्न कोई वस्तु-सत् नही है, उसी तरह अवयवी भी वस्तुसे भिन्न कोई वस्तुसत् नही। यदि अवयवी वस्तुत. एक स्वतत्र वास्तविक पदार्थ होता तो—

"हाथ आदि (मेंसे किसी एक)के कम्पनसे (शरीर)का कपन होता, क्योकि एक (ही अखड अवयवी)मे (कम्पन) कर्म (और उसके) विरोधी (अकपन दोनो) नही रह सकते, ऐसा न होनेपर (कम्पनवालेसे अ-कम्पनवाला अवयवी) अलग सिद्ध होगा।"[1]

अवयवोके योगसे अवयवी अलग वस्तु पैदा होती है, ऐसा माननेपर अवयवोके योगके साथ अवयवीके भी मिल जानेसे अवय+अवयव+अवयव. . =भार जितना होता है, अवयव+अवयव+अवय + अवयवी=भार वहुत ज्यादा होना चाहिए। क्योकि (यदि अवयवोके भार और उसके अनुसार तोलनेपर तराजूका) नीचे जाना होता है, तो (अवयवोके साथ अवयवीके भी मिल जानेपर) तराजूका नीचे जाना (और अधिक) होना चाहिए।"[2]

"क्रमश. (सूक्ष्म अवयवोको वढाते हुए वहुत अवयवोसे) युक्त धूलिकी राशिमें एक समय (अलग-अलग अवयवो और उनसे) युक्त (राशि)के भारमें भेद होना चाहिए, और इस (गौरवके) भेदके कारण (सोनेके या चाँदीके छोटे-छोटे टुकडोको) अलग-अलग तोलने तथा (उन टुकडोको गलाकर एक पिंड वना) साथ (तोलने) पर सोनेके मापक (=मासा, रत्ती) आदि (मे तोलनेकी) सख्यामे समानता नही होनी चाहिए।"[3]

---

[1] प्र० वा० ३।२८४ [2] प्र० वा० ४।१५४

[3] प्र० वा० ४।१५७, १५८

एक मासा भर सोना अलग तोलनेपर भले ही एक मासा हो, किन्तु जब ६६ मासा सोनेको गलाकर एक डला तैयार किया जाय तो उसमें ६६ मासेके ६६ टुकड़ोके अतिरिक्त उससे बना अवयवी भी आ मौजूद हुआ है, इसलिए अब वजन ६६ मासासे ज्यादा होना चाहिए।

(संख्या आदिका खंडन)—वैशेषिकने सख्या, सयोग, कर्म, विभाग, आदि गुणोको वस्तुसत्के तौरपर माना है, जिन्हें कि धर्मकीर्त्ति व्यवहार (=सवृति)-सत् भर माननेके लिए तैयार है, और कहते है—

"संख्या, सयोग, कर्म, आदिका भी स्वरूप उसके रखनेवाले (द्रव्य)के स्वरूपसे (या) भेदके साथ कहनेसे बुद्धि (=ज्ञान)में नही भासित होता। (इसलिए भासित न होनेपर भी उन्हे वस्तुसत् मानना गलत है)।

"शब्दके ज्ञानमे (एक घट इस) कल्पित अर्थमें वस्तुओके (पारस्परिक) भेदको अनुसरण करनेवाले विकल्पके द्वारा (सख्या आदिका प्रयोग उसी तरह किया जाता है), जैसे गुण आदिमें (=पाँतीमें 'एक बड़ी जाति है,' यहाँ एक भी गुण और बड़ी भी गुण, किन्तु गुणमे गुण नही हो सकनेसे एक सख्याके साथ बडा परिमाणका प्रयोग नही होना चाहिए) अथवा नष्ट या अबतक न पैदा हुओमे ('एक, दो, बहुत मर गए) या 'पैदा होगे'का कहना। निश्चय ही जो एक, दो . संख्या मरे या न पैदा-हुए-जैसे आस्तीत्वशून्य आधारका आधेय—गुण—है, वह कल्पित छोड़ वास्तविक नही हो सकता।[1]"

(३) सांख्य दर्शनका खंडन—सांख्य-दर्शन चेतन और जड़ दो प्रकारके तत्वोको मानता है। जिनमें चेतन—पुरुष—तो निष्क्रिय साक्षी मात्र है, हाँ उसके सपर्कसे जड़तत्व—प्रधान—सारे जगत्को अपने स्वरूप-परिवर्तन द्वारा बनाता है। साख्य प्रधानमें भिन्नता नही मानता, और साथही सत्कार्यवाद—अर्थात् कार्यमें पहिलेसे ही पूर्णरूपेण कारणके मौजूद होने—को स्वीकार करता है। धर्मकीर्त्ति कहते है—

---

[1] प्र० वा० २।६२

"अगर अनेक (=बीज, पानी, मिट्टी आदि) एक (प्रधान=प्रकृति) स्वरूप होते एक कार्य (अंकुर)को करते है, तो (वही) स्वरूप (=प्रधान) एक (बीज)में (वैसे ही है, जैसे कि वह दूसरी जगह), इसलिए (दूसरे) सहकारी (कारण पानी, मिट्टी आदि) फजूल है।

"(पानी, मिट्टी आदि सहकारी कारणोके न होनेपर बीजके रहनेमे) वह (प्रधान—मौलिक भौतिक तत्व तो) अ-भिन्न—(है) और (वह पानी, मिट्टी आदि बन जानेपर भी अपने पहिले) स्वरूपको नही छोडता (क्योकि वह नित्य है, और) विशेष (=पानी, मिट्टी आदि) नाशमान है (किंतु हम देखते है) एक (सहकारी जल या मिट्टी)के न होनेपर (भी) कार्य (=अंकुर) नही होता, इससे (पता लगता है कि) वह (अंकुर, प्रधानसे नही बल्कि) विशेषो (=पानी, मिट्टी आदि)से उत्पन्न होता है।

"परमार्थवाला भाव (=पदार्थ) वही है, जो कि अर्थक्रियाको कर सकता है। (ऐसे अर्थक्रिया करनेवाले है मिट्टी, पानी आदि विशेष) और वह (परस्पर भिन्न होनेसे कार्य=अंकुरमे) एक-रूप नही होते, और जिमे (तुम) एक रूप होता (कहते हो) उस (प्रधान)से (अंकुर-) कार्यका संम्भव नही (, क्योकि सत्कार्यवादके अनुसार वह तो, जैसा अपने स्वरूपमे है, वैसा ही मिट्टी आदि बननेपर भी है)।

"(और प्रधानको हर हालतमे एक रूप माननेपर बीज, मिट्टी, पानी सभी प्रधान-मय और एक रूप है, फिर एक बीजके रहनेमे मिट्टी, पानी आदिके न होनेपर भी अंकुरकी उत्पत्तिमे कोई हर्ज नही होना चाहिए, किन्तु हम) यह स्वभाव (देखते है कि) उस (कारण-) स्वरूपने (बीज, मिट्टी, पानी आदि के आपसमें) भिन्न होनेपर कोई (=बीज, मिट्टी, आदि अंकुरका) कारण होता है, दूसरे (आग, सुवर्ण आदि) नही, यदि (बीज, मिट्टी, आग, पानी आदि विशेषोंका) अभेद होता, तो (अंकुरका आगसे) नाश (और बीज आदिसे) उत्पत्ति (दोनो) एक साथ होती।"[1]

---

[1] प्र० वा० १।१६६-१७०

"(जो अर्थक्रिया करनेवाला[1] है) उसीको कार्य और कारण कहते है, वही स्व-लक्षण(=वस्तुसत्) है, (और) उसीके त्याग और प्राप्तिके लिए पुरुषोकी (नाना कार्योमे) प्रवृत्ति होती है।

"जैसे (साख्य-सम्मत मूल भौतिक तत्त्व, प्रधानकी सभी भौतिक तत्त्वो—मिट्टी, बीज, पानी आगमें) अभिन्नताके एक समान होनेपर भी सभी (बीज, पानी, आग . प्रधानमय तत्त्व) सभी (कार्यो—अकुर, घडा आदि)के (करनेमे) साधन नही होते, वैसे ही, पूर्वपूर्व कारण (क्षणिक परमाणु या भौतिक तत्त्वोकी) सभी उत्तर-उत्तर कार्यो (मिट्टी, बीज, पानी, आग आदि)मे भिन्नताके एक समान होनेपर भी सभी (कारण) सभी (कार्यों)के (करनेमे) साधन नही होते।

"(यही नही, सत्कार्यवादके विरुद्ध कारणसे कार्यको) भिन्न माननेपर '(सब नही) कोई-कोई ही (वस्तुए) अपनी विशेषता (=धर्म)की वजहसे (किसी एक कार्यका) कारण हो सकती है। किन्तु (सत्कार्यवादके अनुसार कारणसे कार्यको) अभिन्न माननेपर (सभी वस्तुए अभिन्न है, फिर उनमेसे) एकका (कही) क्रिया (=कार्य)कर सकना और (कही) न कर सकना (यह दो परस्पर-) विरोधी (बाते) है।"[2]

इस प्रकार साख्यका सत्कार्यवाद—मूलत. विश्व और विश्वकी वस्तुएँ कारणसे कार्य अवस्थामे कोई भेद नही रखती (प्रधान=पानी, प्रधान= आग, प्रधान=चीनी, प्रधान=मिर्च)—गलत है, और बौद्धोका असत्-कार्यवाद ही ठीक है, जिसके अनुसार कि—कारण एक नही अनेक है, और हर कार्य अपने कारणसे बिलकुल भिन्न चीज, यद्यपि हर नया उत्पन्न होनेवाला कार्य अपने कारणसे सादृश्य रखता है, जिससे 'यह वही है' का

---

[1] अर्थक्रियाकारी=अर्थक्रिया-समर्थ-कार्यके उत्पादनमें समर्थ, क्रियाके उत्पादनमें समर्थ, सार्थक क्रिया करनेमें समर्थ, सफल क्रिया करनेमें समर्थ, क्रिया करनेमें योग्य, क्रिया कर सकनेवाला—आदि इसके अर्थ है।

[2] प्र० वा० १।१७५-१७७

भ्रम होता है।

(४) **मीमांसाका खंडन**—मीमांसाके सिद्धान्तोंके बारेमें हम पहिले लिख चुके है। मीमांसाका कहना है कि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण सामने उपस्थित पदार्थ भी वस्तुत क्या है इसे नही बतला सकते, और परलोक स्वर्ग, नर्क, आत्मा आदि जो पदार्थ इन्द्रिय-अगोचर है, उनका ज्ञान करानेमें तो वे बिलकुल असमर्थ है, इसलिए उनका सबसे ज्यादा जोर शब्द-प्रमाण—वेद—पर है, जिसे कि वह अ-पौरुषेय किसी पुरुष (=मनुष्य, देवता या ईश्वर) द्वारा नही बनाया अर्थात् अकृत सनातन मानते है। बौद्ध प्रत्यक्ष, तथा अगत प्रत्यक्ष अर्थात् अनुमानके सिवा किसी तीसरे प्रमाणको नही मानते, और प्रत्यक्ष-अनुमानकी कसौटीपर कसनेमें वेद उसके हिंसामय यज्ञ—कर्मकाड आदि ही नही बहुतसी दूसरी गप्पे और पुरोहितोकी दक्षिणाके लोभसे बनाई बाते गलत साबित होती, ऐसी अवस्थामें सभी धर्मानुयायियोकी भाँति वैदिक पुरोहितोंके लिए मीमासा जैसे शास्त्रकी रचना करके शब्दप्रमाणको ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण सिद्ध करना जरूरी था। बुद्धसे लेकर नागार्जुन तक ब्राह्मण-पुरोहितोके जबर्दस्त हथियार वेदके कर्मकाड और ज्ञानकाडपर भारी प्रहार हो रहा था। युक्तिके सहारे ज्ञानकाडके बचानेकी कोशिश अक्षपाद और उनके भाष्यकार वात्स्यायनने की, जिनपर दिग्नागके कर्कश तर्क-शरोका प्रहार हुआ, जिससे बचानेकी कोशिश पाशुपताचार्य उद्योतकर भारद्वाज (५०० ई०)ने की, किन्तु धर्मकीर्त्तिने उद्योतकरकी ऐसी गति बनाई कि वाचस्पति मिश्रको "उद्योतकरकी बूढी गायोके उद्धार"के लिए कमर बाँधनी पडी।

किन्तु युक्तिवादियो (=तार्किको)की सहायतासे वैदिक ज्ञान—और कर्म-काडके ठीकेदारोका काम नही चल सकता था, इसलिए बादरायणको ज्ञानकाड (=ब्रह्मवाद) और जैमिनिको कर्मकाडपर कलम उठानी पडी। उनके भाष्यकार शबर असगके विज्ञानवादसे परिचित थे। दिग्नागने अक्षपाद और वात्स्यायनकी भाँति शबर और जैमिनिपर भी जबर्दस्त चोट की; जिसपर नैयायिक उद्योतकरकी भाँति मीमासक कुमारिल भट्ट मैदानमें आए।

धर्मकीर्त्ति उद्योतकरपर जिस तरह प्रहार करते है, उससे भी निष्ठुर प्रहार उनका कुमारिलपर है। वेद-प्रमाणके अतिरिक्त मीमांसक प्रत्यभिज्ञाको भी एक जबर्दस्त प्रमाण मानते है, हम इन्ही दोनोंके बारेमे धर्मकीर्त्तिके विचारोंको लिखेगे।

(क) प्रत्यभिज्ञा-खंडन—पदार्थ (=राम)को सामने देखकर "यह वही (राम) है" ऐसी प्रत्यभिज्ञा (=प्रामाणिक स्मृति) स्पष्ट मालूम होनेवाली (=स्पष्टावभास) प्रत्यक्ष प्रमाण है,—मीमासकोकी यह प्रत्यभिज्ञा है। बौद्ध इस प्रत्यभिज्ञाको "यह वही"की कल्पनापर आश्रित होनेसे प्रत्यक्ष नही मानते और "स्पष्ट मालूम होनेवाली"के बारेमे धर्मकीर्त्ति कहते है—

"(काटनेपर फिरसे जमे) केशों, (मदारीके नये-नये निकाले) गोलो, तथा (क्षण-क्षण नष्ट हो नई टेमवाले) दीपों....में भी ('यह वही है' यह) स्पष्ट भासित होता है (; किन्तु क्या इससे यह कहना सही होगा कि केश—गोला—दीप वही है?)।

"जब भेद (प्रत्यक्षत:) ज्ञात है, (तो भी) वैसा (=एक होनेके भ्रमवाला अभेद-) ज्ञान कैसे प्रत्यक्ष हो सकता है? इसलिए प्रत्यभिज्ञाके ज्ञानसे (केश आदिकी) एकताका निश्चय ठीक नहीं है।"[1]

(ख) शब्दप्रमाण-खंडन—यथार्थ ज्ञानको प्रमाण कहा जाता है, शब्दप्रमाणको माननेवाले कपिल, कणाद, अक्षपाद प्रत्यक्ष अनुमानके अतिरिक्त यथार्थवक्ता (=आप्त) पुरुषके वचन (=शब्दको) भी प्रमाण मानते है। मीमांसक "कौन पुरुष यथार्थवक्ता है" इसे जानना असंभव समझते हुए कहते है—

(a) **अपौरुपेयता फ़ज़ूल**—"यह (पुरुष) ऐसा (=यथार्थवक्ता) है या नही है, इस प्रकार (निश्चयात्मक) प्रमाणोके दुर्लभ होनेसे (किसी) दूसरे (पुरुष)के दोषयुक्त (=झूठे) या निर्दोष (=सच्चे, यथार्थवक्ता)

---

[1] प्र० वा० ३।५०३-५०५

होनेको जानना अति कठिन है।"[1]

और फिर—

"(किन्ही) वचनोके झूठे होनेके हेतु (ये अज्ञान, राग, द्वेष आदि) दोष पुरुषमे रहनेवाले है, (इसलिए पुरुषवाले=पौरुषेय वचन झूठे होते है, और) अ-पौरुषेय सत्यार्थ . .।"[2]

इसके उत्तरमे धर्मकीर्त्ति कहते है—

"(किन्ही) वचनोके सत्य होनेके हेतु (ज्ञान, अराग, अ-द्वेष आदि) गुण पुरुषमे रहनेवाले है, (इसलिए जो वचन पुरुषके नही है, वह सत्य कैसे हो सकते है, और जो) पौरुषेय (है, वही) सत्यार्थ (हो सकते है)। . .[3]

"(साथ ही शब्दके) अर्थको समझानेका साधन है (गाय शब्दका अर्थ 'सीग-पूँछ-गलकम्बलवाला पिड' ऐसा) सकेत (और वह सकेत) पुरुषके ही आश्रयसे रहता (पौरुषेय) है। इस (सकेतके पौरुषेय होने) से वचनोके अपौरुषेय होनेपर भी उनके झूठे होनेका दोष सम्भव है।

"यदि (कहो शब्द और अर्थका) सबध अ-पौरुषेय है, तो (आग और आँचके सबधकी भाँति उसके स्वाभाविक होनेसे सकेतसे) अजान पुरुष को भी (सारे वेदार्थका) ज्ञान होना चाहिए। यदि (पौरुषेय) सकेतसे वह (सबध) प्रकट होता है, तो (सकेतसे भिन्न कोई) दूसरी कल्पना (सबधको व्यवस्थापित) नही कर सकती।

"यदि (वस्तुत) वचनोका एक अर्थमे नियत होना (प्रकृति-सिद्ध) होता, तो (एक वचनका एक छोड) दूसरे अर्थमे प्रयोग न होता।

"यदि (कहो—एक वचनका) अनेको अर्थो (=पदार्थो)से (वाच्य-वाचक) सबध (स्वाभाविक) है, तो (एक ही वचनसे) विरुद्ध (अर्थो-की)सूचना होगी, फिर 'अग्निष्टोम याग स्वर्गका साधन है' इस वचनका अर्थ 'अग्निष्टोम याग नरकका साधन है' भी हो सकता है।[4]

---

[1] प्र० वा० १।२२२ [2] वहीं १।२२७

[3] वहीं १।२२७, २२८ [4] वहीं १।२२७–२३१

जैसे भी हो वेदको पुरुषरचित न माननेपर भी पिंड नही छूटता, क्योंकि, "(शब्द-अर्थके संबंधको) पुरुष(-संकेत) द्वारा न-संस्कार्य (=न प्रकट होनेवाला माननेपर वचनोकी ही) बिलकुल निरर्थकता होगी; (क्योकि शब्दार्थ-संबंधके संकेतको सभी लोग गुरु-शिष्य संबंधसे ही जानते है, इससे इन्कार नही किया जा सकता)। यदि (पुरुष द्वारा) संस्कार (होने)को स्वीकार करते हो तो यह ठीक गजस्नान हुआ (—वेद-वचन और उसके शब्दार्थ-संबंधको तो पौरुषेय नही माना, किन्तु शब्दार्थ-संबंधके संकेतको पुरुष द्वारा ही संस्कार्य मानकर फिर वचनसे मिलनेवाले ज्ञानके सच-झूठ होनेमें सन्देह पैदा कर दिया)।"[1]

और वस्तुतः वेदको जैमिनि जिस तरह अपौरुषेय सिद्ध करना चाहते है, वह बिलकुल गलत है।—

"('चूंकि वेद-वचनोंके) कर्त्ता (पुरुष) याद नही इसलिए (वह) अपौरुषेय है'—ऐसे भी (ढीठ) बोलनेवाले है! धिक्कार है (जगत्में) छाये (इस जड़ताके) अन्धकारको!!"[2]

अपौरुषेयता सिद्ध करनेके लिए "कोई (कहता है—) 'जैसे यह (आगेका विद्यार्थी) दूसरे (पुरुष—अपने गुरु—से) बिना सुने इस वर्ण (=अक्षर) और पद(के) क्रम (वाले वेद)को नही बोल सकता, वैसे ही कोई दूसरा पुरुष (=गुरु) भी (अपने गुरु और वह अपने गुरु ...से सुने बिना नही बोल सकता; और इस प्रकार गुरुओकी परम्पराका अन्त न होनेसे वेद अनादि, अपौरुषेय सिद्ध होता है।)"[3]

किन्तु ऐसा कहनेवाला भूल जाता है—"(वेदसे भिन्न) दूसरे (पुरुषके) रचित (रघुवंश आदि) ग्रंथ भी (गुरु-शिष्यके) संप्रदायके बिना (पढा) जाता नही देखा गया, फिर इससे तो वह (=रघुवंश) (वेदकी) तरह (अनादि) अनुमान किया जायेगा।"[4]

---

[1] प्र० वा० १।२३३
[2] वहीं १।२४२, २४३
[3] वहीं १।२४२, २४३
[4] वहीं १।२४३, २४४

गुरु-शिष्य, पिता-पुत्रके सबघसे हर एक तरहकी बात मनुष्य सीखता है, और इसीसे मीमासक वेदको अनादि सिद्ध करते है, फिर "वैसा तो म्लेच्छ आदि (अ-भारतीय जातियो) के व्यवहार (अपनी मां और बेटीसे व्याह आदि) तथा नास्तिकोंके वचन (ग्रथ) भी अनादि (मानने पडेगे। और) अनादि होनेसे (उन्हें भी वेद) जैसे ही स्वत प्रमाण मानना होगा।"[1]

"फिर इस तरहके अपौरुषेयत्वके सिद्ध होनेपर भी (जैमिनि और कुमारिलको) कौनसा फायदा होगा (, क्योकि इससे तो सब धान बाईस-पसेरी हो जावेगा)।"[2]

(b) **अपौरुषेयताकी आड़में कुछ पुरुषोका महत्त्व बढ़ाना**—वस्तुत· एक दूसरे ही भावसे प्रेरित होकर जैमिनि-कुमारिल एड-कम्पनीने अपौरुषेयताका नारा बुलद किया है—

"(इस वेद-वचनका) 'यह अर्थ है, यह अर्थ नही है' यह (वेदके) शब्द (खुद) नही कहते। (शब्दका) यह अर्थ तो पुरुष कल्पित करते है, और वे रागादि-युक्त होते है। (उन्ही रागादिमान् पुरुषोंके बीच जैमिनि वेदार्थका तत्त्ववेत्ता है! फिर प्रश्न होता है—) वह एक (जैमिनि... ही) तत्त्ववेत्ता है, दूसरा नही, यह भेद क्यो? उस (=जैमिनि)की भाँति पुरुषत्व होते भी किसी तरह किसी (दूसरेको) ज्ञानी तुम क्यो नही मानते?"[3]

(c) **अपौरुषेयतासे वेदके अर्थका अनर्थ**—आप कहते है, चूंकि "(पुरुष) स्वयं रागादिवाला (है, इसलिए) वेदके अर्थको नही जानता, और (उसी कारण वह) दूसरे (पुरुष)से भी नही (जाना जा सकता, बेचारा) वेद (स्वय तो अपने अर्थको) जतलाता नही, (फिर) वेदार्थकी क्या गति होगी? इस (गडबडी)से तो 'स्वर्ग चाहनेवाला अग्निहोत्र होम करे' इस श्रुतिका अर्थ 'कुत्तेका मास भक्षण करे' नही है इसमे क्या प्रमाण है?

---

[1] प्र० वा० १।२४८, २४९ [2] वहीं १।२४९ [3] वहीं १।३१६

"यदि (कहो,) लोगोमे बात प्रसिद्ध है (जिससे इस तरहका अर्थ नही हो सकता), तो (सवाल होगा, सभी लोग तो रागादिवाले है) उनमें कौन (स्वर्ग जैसे) अतीन्द्रिय पदार्थका देखनेवाला है, जिसने कि अनेक-अर्थवाले शब्दोमे 'यही अर्थ है' इसका निश्चय किया है ?

"स्वर्ग, उर्वशी आदि (कितने ही वैदिक) शब्दोका (वेदज्ञ होनेका दावा करनेवाले मीमासको द्वारा किया गया लोक-) रूढिसे भिन्न अर्थ भी देखा जाता है (, जैसे स्वर्गका लोकसमत अर्थ है—मनुष्यसे वहुत ऊँचे दर्जेके विशेष पुरुषोका वासस्थान, जहाँ अ-मानुष सुख तथा उसके नाना साधन सदा सुलभ है; उसके विरुद्ध मीमासक कहते है, कि वह दुःखसे सर्वथा रहित सर्वोत्कृष्ट सुखका नाम है, उर्वशीका लोक-सम्मत अर्थ है, स्वर्गकी अप्सरा, किन्तु उसके विरुद्ध मीमासक वेदज्ञ उसे अरणि या पात्री (नामक यज्ञपात्रोका पर्याय वतलाते है); फिर उसी तरह 'जुहुयात'का अर्थ 'कुत्ता-मांस खाओ' । सभी तरहके अर्थ लग सकनेवाले दूसरे शब्दों ('अग्निहोत्र जुहुयात्')में वैसे ही ('कुत्ता-मास खाओ' इस अर्थकी) कल्पना (भी) मानो ।"[1]

अपौरुषेयताका नारा पुरोहितोकी वैसी ही परवचना मात्र है, जैसे कि राजगृहका मार्ग पूछनेपर "कोई कहे 'यह ठूंठ कहता है कि यह मार्ग है', और दूसरा (पुरुष कहे 'यह मार्ग है' इसे) मै खुद कहता हूँ। (अव आप) इन दोनोकी (वंचना और सचाईकी खुद) परीक्षा कर सकते है।"[2]

(d) वेदकी एक बात सच होनेसे सारा वेद सच नहीं—वेदका एक वाक्य है "अग्निर्हिमस्य भेषज" (=आग सर्दीकी दवा है), इसे लेकर मीमासक कहते है—"चूँकि 'अग्निर्हिमस्य भेषजं' यह वाक्य विलकुल सत्य (=प्रत्यक्ष-सिद्ध) है, (उसी तरह 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्ग-काम.'—स्वर्गचाहनेवाला अग्निहोत्रं होम करे, इस) दूसरे वचनको भी (उसी) वेदका एक अश होनेसे (प्रमाण मानना चाहिए।)"[3]

---

[1] प्र० वा० १।३२०-३२३ [2] वहीं १।३२८ [3] वहीं १।३३३

इसके उत्तरके वारेमें इतना ही कहना है—

"यदि इस तरह (एक वातकी सच्चाईसे) प्रमाण सिद्ध होता, तो फिर यहाँ अ-प्रमाण क्या है ? वहुभाषी (झूठे) पुरुषकी एक वात भी सच्ची न हो, यह (तो है) नही।"[1]

(e) **शब्द कभी प्रमाण नही हो सकता**—"जो अर्थ (प्रत्यक्ष या अनुमानसे) सिद्ध है, उन (के सावन)मे वेद (शास्त्र)के त्याग देनेसे (कोई) क्षति नही, और जो परोक्ष (=इन्द्रिय-अगोचर पदार्थ है), वह अभी सावित ही नही हो सके है, अतः उनमे वेद (=आगम)का (उपयोग) ही ठीक नही हो सकता, अत (वहाँ इसका) ख्याल ही नही हो सकता (इस प्रकार परोक्ष और अपरोक्ष दोनो वातोमे वेद या शब्द-प्रमाणकी गुजाइश नही।)"[2]

"किसने यह व्यवस्था (=कानून) वनाई कि 'सभी (वातो)के वारेमे विचार करते वक्त शास्त्र (=वेद)को लेना चाहिए, (और) (वेदके) सिद्धातको न जाननेवालेको धुआँ देख आग (होने की वात) न ग्रहण करनी चाहिए।'

"(वेदके फदेसे) रहित (वेद-वचनोंके) गुण या दोषको न जानने-वाले सहज प्राणी (=सीधे-सादे आदमीके मत्थे वेद आदिकी प्रमाणता रूपी) ये सिद्धान्त विकट पिशाच किसने थोपे ?"[3]

अन्तमें धर्मकीर्त्तिने मीमासकोंके प्रत्यक्ष, अनुमान जैसे प्रमाणोंको छोड "अपौरुषेय वेद"के वचनपर आँख मूँदकर विश्वास करनेकी वातपर जोर देनेका जवर्दस्त खडन एक दृष्टान्त देकर किया—कोई दुराचारिणी (स्त्री) परपुरुषके समागमके समय देखी गई, और जव पतिने उसे डाँटा, तो उसने पासकी स्त्रियोको सवोधन करके कहा,—'देखती हो वहिनो! मेरे पतिकी वेवकूफीको ? मेरी जैसी धर्मपत्नीके वचन (=शब्द-प्रमाण)पर विश्वास न कर वह अपनी आँखोंके दो वुलवुलो (=प्रत्यक्ष और अनु-

[1] प्र० वा० १।३३८ [2] वहीं ४।१०६ [3] वहीं १।५३-५४

मान)पर विश्वास करता हूँ' ।"[1]

(५) अ-हेतुवाद खंडन—कितने ही ईश्वरवादी और सन्देहवादी दार्शनिक विश्वमे कार्य-कारण-नियम या हेतुवादको नही मानते । इस्लामिक दार्शनिकोमें अश-अरीने कार्य-कारण-नियमको ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्तामें भारी बाधा समझा, और इसे एक तरह भौतिकवादकी छिपी हिमायत समझ, बतलाया कि चीजोके पैदा होनेमें कोई कारण पहिलेसे उपस्थित नही; अल्ला मियाँ हर वस्तुको हर वक्त बिलकुल नई—असत्‌से सत्‌के रूपमे—बनाते हैं । अश्अरीके अतिरिक्त कुछ सन्देहवादी आधुनिक और प्राचीन दार्शनिक भी है, जो विश्वकी वस्तुओकी रचनामे किसी प्रकारके कार्य-कारण नियमको नही मानते । वह कहते है, चीजे न किसी कारणसे बनती है, और न तुरन्त नष्ट हुए अपने पूर्वगामीके स्वभाव आदिमे सदृश उत्पत्ति होनेके किसी नियमका अनुसरण करती है । वह कहते है—

"(जैसे) काँटे आदिमें तीक्ष्णता आदिका (कोई) कारण नही, उसी तरह (जगत्‌मे) यह सब कुछ बिना कारण (अ-हेतुक) है ।"[2]

धर्मकीर्त्ति उत्तर देते हैं—

"जिसके (पहिले) होनेपर जो (बादमें) जन्मे, अथवा (जिसके) विकारसे (जिसको) विकार हो, वह उसका कारण कहा जाता है, और वह इन (काँटो)में भी है ।"[3]

हर उत्पन्न होनेवाली चीजको बिलकुल नई बौद्ध दार्शनिक भी मानते है, किन्तु वह उन्हे क्षण-विनाशी बिन्दुओंके प्रवाहका एक बिन्दु मानते है, और इस प्रकार कोई वस्तु-बिन्दु ऐसा नही, जिसका पूर्व और पश्चाद्-गामी बिन्दु

---

[1] प्रमाणवार्त्तिक-स्ववृत्ति १।३३७ "सा स्वामिना 'परेण संगता त्वमि'त्युपालब्धाऽऽह—'पश्यत पुंसो वैपरीत्यं धर्मपत्न्यां प्रत्ययमकृत्वा स्वनेत्रबुद्बुदयोः प्रत्येति' ।"

[2] प्र० वा० २।१८०-१८१ [3] वहीं २।१८१-१८२

न हो। यही पूर्वगामी विन्दु कारण है और पश्चाद्गामी अपने पूर्वगामी विन्दुके स्वभावसे सादृश्य रखता है, यदि यह नियम न होता, तो आम-खानेवाला आमकी गुठली रोपनेके लिए ज्यादा ध्यान न देता। एक भाव (=वस्तु)के होनेपर ही दूसरे भावका होना, तथा हर एक वस्तुकी अपने पूर्वगामीके सदृश उत्पत्ति, यह हेतुवादको मावित करता है। जवतक विश्वमें सर्वत्र देखा जानेवाला यह उत्पत्ति-प्रवाह और सदृश-उत्पत्तिका नियम विद्यमान है, तवतक अहेतुवाद विलकुल गलत माना जायेगा।

(६) जैन अनेकान्तवादका खंडन—जैन-दर्शनके स्याद्वाद या अनेकान्तवादका जिक्र हम कर चुके हैं। इस वादके अनुसार घडा घड़ा भी है और कपडा भी, उसी तरह कपडा कपडा भी है और घडा भी। इसपर धर्मकीर्त्तिका आक्षेप है—

"यदि सव वस्तु (अपना और अन्य) दोनो रूप है, तो (दही दही ही है, ऊँट नही, अथवा ऊँट ऊँट ही है दही नहीं, इस तरह दहीमें) उसकी विशेपताको इन्कार करनेसे (किसीको) 'दही खा' कहनेपर (वह) क्यों ऊँटपर नही दौडता ? (—आखिर ऊँटमें भी दही वैसे ही मौजूद है, जैसे दही में)।

"यदि (कहो, दहीमे) कुछ विशेपता है, जिस विशेपताके साथ (दही वर्तमान है, ऊँट नही, तव तो) वही विशेपता अन्यत्र भी है, यह (वात) नही रही, और इसीलिए (सव वस्तु) दोनों रूप नहीं (वल्कि अपना ही अपना है, और)पर ही (पर है)।"[1]

धर्मकीर्त्तिके दर्शनके इस सक्षिप्त विवरणको उनके ही एक पद्यके साथ हम समाप्त करते हैं—

"वेद (=ग्रथ)की प्रमाणता, किसी (ईश्वर)का (सृष्टि-)कर्तापन (=कर्तृवाद), स्नान (करने)मे धर्म(होने)की इच्छा रखना, जातिवाद (=छोटी वडी जाति-पाँत)का घमड, और पाप दूर करने के लिए

[1] प्र० वा० ३।१८०-१८२

(शरीरको) सन्ताप देना (=उपवास तथा शारीरिक तपस्याएं करना)—ये पाँच है, अकल-मारे (लोगो)की मूर्खता (=जडता) की निशानियाँ।"[1]

---

[1] प्रमाणवार्त्तिक-स्ववृत्ति १।३४२–
"वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
संतापारंभः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पंच लिंगानि जाड्ये॥"